बौद्ध महातीर्थ

लेखक

श्री मदनमोहन नागर

संचालक, राजकीय संग्रहालय,

उत्तर प्रदेश।



प्रकाशक

पब्लिकेशंस ब्यूरो,

सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश,

लखनऊ।

बौद्ध महातीर्थ

लेखक
श्री मदनमोहन नागर
संचालक, राजकीय संग्रहालय,
उत्तर प्रदेश ।

प्रकाशक
पब्लिकेशंस ब्यूरो,
सूचना-विभाग, उत्तर प्रदेश,
लखनऊ ।

प्रस्तावना

'गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारत-भूमि-भागे ।
स्वर्गापवर्गास्पद् मार्ग भूते भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात् ।।

उपर्युक्त शब्दों से भारतीय अतीत के उस गौरव की स्पष्ट झलक मिलती है, जिससे आकृष्ट हो स्वर्गस्थ देवता भी आर्यावर्त की पवित्र भूमि में अवतार लेने के लिए लालायित रहा करते थे। अपनी धार्मिक एवं सांस्कृतिक चेतनाओं के कारण ही भारत स्वर्ग से भी अधिक श्रेष्ठ बन सका था। मानव-सभ्यता के आदि युग से देवोत्तर एवं लोकोत्तर भावनाओं की यहां सृष्टि होती रही है। ऐसा प्रतीत होता है कि इस देश की धरती में सांस्कृतिक प्रेरणाओं के अंकुर मानव-सभ्यता के उद्भव के साथ ही साथ उत्पन्न हुए। जब जैसी आवश्यकता हुई तब तैसी मानसिक चेतना का संदेश देने के लिए कोई न कोई दैवी शक्ति महापुरुष के रूप में प्रकट हुई और उसने अपनी पीयूष-वाणी से अशांत एवं दिग्भ्रांत जन-समूह को अलभ्य शांतिमय सन्मार्ग का संकेत किया। फलस्वरूप उस दिव्य अवतार की पूजा कर देश ने उसे ही नहीं अपने को भी गौरवान्वित किया और इस प्रकार भविष्य की पीढ़ी के लिए अक्षय निधि संचित कर ली। मर्यादा पुरुषोत्तम राम, योगेश्वर कृष्ण, शांतिविधायक बुद्ध, आदि जैसे महान् लोकनायकों ने जो मार्ग दिखलाये वे आज तक प्रकाश-स्तम्भ की भांति भारतीय जनता का मार्ग निर्देशन कर रहे हैं। यद्यपि ये महापुरुष आज हमारे बीच नहीं हैं तथापि उनकी अमृतवाणियां तथा पवित्र तीर्थ-स्थानों के रूप में उनकी लीलास्थलियां हमें अब भी प्रेरणा एवं शक्ति प्रदान करने में पूर्णरूपेण समर्थ हैं। अयोध्या, मथुरा, द्वारका, चित्रकूट, रामेश्वरम् बुद्धगया, आदि स्थान इसी कारण आज महान् तीर्थ बनकर असंख्य जन को आध्यात्मिक शांति और प्रेरणा दे रहे हैं। परन्तु उन सब की चर्चा न करके हम केवल बौद्ध अष्ट महातीर्थों का ही परिचय यहां देंगे।

भगवान बुद्ध के जीवन से आठ स्थान विशेष रूप से संबंधित रहे हैं। इनमें से चार स्थानों का उल्लेख 'महा परिनिब्बान सुत्त' में भगवान ने स्वयं अपने श्रीमुख से किया था और भिक्षुओं को वहां आते-जाते रहने का आदेश भी दिया था। वे

चार प्रमुख स्थान क्रम से लुम्बिनी, बुद्धगया, सारनाथ तथा कुशीनगर हैं । लुम्बिनी में भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था, बुद्धगया में उन्हें परमज्ञान की प्राप्ति हुई थी, सारनाथ में उन्होंने 'धम्म चक्क पवत्तन सुत्त' नामक अपना प्रथम धर्मोपदेश दिया था तथा कुशीनगर में महापरिनिर्वाण प्राप्त कर उन्होंने अपनी शारीरिक लीला समाप्त की थी । इस प्रकार इन चारों स्थलों का महत्व स्वयं सिद्ध है । इनके अतिरिक्त अन्य चार स्थल राजगृह, श्रावस्ती, संकिसा एवं कौशाम्बी हैं, जहां उन्होंने अलौकिक चमत्कार दिखाये थे । राजगृह में उन्होंने नालागिरि नामक हाथी को शांत किया था । कहा जाता है कि राजगृह में भगवान का आगमन सुनकर उनके परमशत्रु देवदत्त ने उनको मार डालने की इच्छा से उनपर नरसंहारकारी प्रमत्त नालागिरि नाम का हाथी छुड़वा दिया था, परन्तु भगवान के अलौकिक चमत्कार के कारण वह हाथी उनके चरणों की धूल ले शांत भाव से लौट गया । श्रावस्ती में महाराज प्रसेनजित् के दरबार में अधर में ठहर कर भगवान् ने अपना दिव्य उपदेश दिया था । साथ ही कभी अपने मुह से जल एवं कभी अग्नि की वर्षा कर उन्होंने अपने अलौकिक चमत्कार से सबको आश्चर्य में डाल दिया था । संकिसा में वे ब्रह्मा तथा इन्द्र के साथ स्वर्ग से भूमि पर उतरे थे । बौद्ध-ग्रंथों से ज्ञात होता है कि अपने दिव्य ज्ञान की प्राप्ति के पश्चात् भगवान बुद्ध अपनी स्वर्गीया माता को उपदेश देने के निमित्त ३३वें स्वर्ग में सदेह गये थे । वहां उन्होंने तीन मास तक अपनी माता को उपदेश दिया था और तत्पश्चात् संकिसा की पवित्र भूमि में उक्त दोनों देवताओं के साथ वैदूर्य की सीढ़ी द्वारा उतरे थे । कौशाम्बी में उन्होंने एक बंदर को, जिसने उन्हें मधु भेंट किया था, अपने अलौकिक बल से सद्गति दी थी । कहते हैं कि एक बार भगवान् बुद्ध कौशाम्बी-विहार के भिक्षुओं के आपसी कलह से अत्यन्त दुखी हो पारिलेयक वन में एकान्त वास कर रहे थे । उस समय एक बंदर ने उन्हें भक्ति से प्रेरित होकर मधु-दान किया था । तत्पश्चात् बंदर कुएं में कूद पड़ा और बुद्ध जी की कृपा से उसने देव-शरीर प्राप्त किया । कलह-प्रिय भिक्षुओं के लिए यह एक अनोखा चमत्कार था । इस प्रकार उक्त आठों स्थान बौद्ध धर्मावलम्बियों के लिए अत्यन्त पूजनीय हैं । भगवान् बुद्ध के जीवन-काल से लेकर लगभग १२वीं शताब्दी तक इन स्थानों ने उत्थान एवं पतन के अनेक परिवर्तन देखे । कभी इनका वैभव, कला एवं संस्कृति की दृष्टि से आकाश से भी ऊंचा उठा तो कभी आक्रमणकारियों की संहारकारिणी प्रवृत्ति ने इन्हें खंडहर बना कर छोड़ा । परन्तु किसी न किसी प्रकार वे सांस्कृतिक प्रतिष्ठान के रूप में १२वी शताब्दी तक संपूजित रहे । तदनन्तर शनैः-शनैः ये स्थान

विस्मृति के गर्भ में विलीन होते गये। यहा तक कि इनके पार्थिव चिन्ह भी प्राय: मिट से गये। यह सौभाग्य की बात है कि इधर पुरातत्व-वेत्ताओं एवं विद्वानों के अथक प्रयत्न से इन स्थानों की खोज की गयी और ये पुनः प्रकाश में आये।

प्रस्तुत पुस्तिका में इन अष्ट महातीर्थों के महत्व, स्थिति, इतिहास एवं दर्शनीय स्थानों की चर्चा की गयी है। पुस्तिका का उद्देश्य पर्यटकों तथा दर्शकों के लिए इनका एक संक्षिप्त परिचय उपलब्ध करना है अत: विस्तृत टीका-टिप्पणियां अथवा विवादग्रस्त आलोचनाएं जानबूझ कर इसमें नही दी गयी हैं। इनके लिए जिज्ञासु एवं विद्वान् उन ग्रंथों को देखें जिनमें इन स्थानों का विशद वर्णन दिया गया है। अन्त में मैं उन अनेक लेखकों एवं विद्वानों के प्रति साभार कृतज्ञता प्रकट करता हूं जिनके लेखों एवं ग्रंथों का उपयोग इस पुस्तिका के लिखने में मैंने बहुधा किया है। मैं अपने पुरातत्व सहायक श्री रामचन्द्र गौड़, एम०ए०, साहित्यरत्न का भी आभारी हूं जिन्होंने इस पुस्तिका की पाण्डुलिपि देखकर आवश्यक संशोधनों एवं मूल्यवान सुझावों द्वारा इसे अंतिम रूप प्रदान करने में मेरी सहायता की है।

महाशिवरात्रि,
संवत् २०१२ वि०

मदनमोहन नागर

लुम्बिनी

लुम्बिनी (वर्तमान रुम्मिनदेई) को भगवान बुद्ध के जन्म-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। यद्यपि यह पहले कोई ऐतिहासिक स्थान न था तथापि भगवान बुद्ध के जन्म के कारण यह बौद्ध-धर्मावलम्बियों का सर्वश्रेष्ठ तीर्थस्थान बन गया। इसकी महत्ता अशोक महान् के समय से विदित है। बौद्ध-धर्म में दीक्षित होने के बाद प्रियदर्शी अशोक ने भगवान तथागत के जन्मस्थान की यात्रा की तथा यहां अनेक स्तूपों एवं विहारों को बनवाया। अपनी यात्रा की स्मृति में उसने एक स्तम्भ भी स्थापित किया। आज ये सब स्मारक प्रकृति की हरीतिमा से आवृत्त होकर भग्नावस्था में अतीत का गौरव छिपाये प्रति वर्ष अनेक बौद्ध-भिक्षुओं, उपासकों, इतिहासज्ञों एवं पुरातत्त्व-वेत्ताओं को आकर्षित करते रहते हैं। ये भग्नावशेष जिस स्थल पर उपलब्ध है वह परिया गांव के नाम से पुकारा जाता है और नेपाल राज्य की भगवानपुर तहसील के उत्तर में दो मील की दूरी पर स्थित है।

परिया तक पहुंचने के लिए दो मुख्य मार्ग है। एक मार्ग गोरखपुर जिले में स्थित नौतनवां स्टेशन से तथा दूसरा बस्ती जिले के नौगढ़ स्टेशन से जाता है। दोनों ही उत्तर–पूर्वी रेलवे के स्टेशन है। नौगढ़ से लुम्बिनी यद्यपि लगभग ३६ मील की दूरी पर है तथापि यह मार्ग यात्रा के लिए सुगम है। कच्ची सड़क होते हुए भी इस मार्ग से बसें और मोटरें सरलता से आ-जा सकती है। नौतनवां का मार्ग १६ मील लम्बा है किन्तु यह दुरूह है। सड़क न होने के कारण खेतों से होकर जाना पड़ता है तथा कई नालों को भी पार करना पड़ता है। इस मार्ग से केवल पैदल या बैलगाड़ी से ही यात्रा संभव है। वर्षा ऋतु में ये दोनों मार्ग एक प्रकार से बन्द हो जाते है। नैपाल राज्य मे होने के कारण भैरहवां के बड़े हाकिम से यहां जाने का आज्ञा-पत्र प्राप्त कर लेना आवश्यक है। लुम्बिनी के समीप ही नैपाल राज्य की ओर से यात्रियों के ठहरने के लिए एक विश्रामगृह है। यहां कोई बाजार नहीं है अतः यात्रियों को भोजन आदि की सामग्री अपने साथ ले जाना चाहिए। नौतनवां स्टेशन से थोड़ी ही दूरी पर महाबोधि संघ द्वारा निर्मित एक धर्मशाला

भी है, जहां यात्री सुविधापूर्वक ठहर सकते हैं और जहां से उन्हें लुम्बिनी पहुंचने के लिए समुचित सहायता मिल सकती है ।

भगवान बुद्ध का जन्मस्थान होने के कारण 'लुम्बिनी' का ऐतिहासिक महत्व स्वयं सिद्ध है । पाली ग्रंथों के अनुसार लुम्बिनी में एक परम सुन्दर उद्यान था जो कौशल-नरेश शुद्धोधन की राजधानी कपिलवस्तु तथा मायादेवी के पिता की राजधानी देवदह के बीच में स्थित था । इन दोनों के राज्यों की सीमा से रोहिणी नदी बहती थी, जिसके जल का उपभोग कृषि के निमित्त समान रूप से किए जाने के कारण दोनों राज्यों में कभी-कभी पारस्परिक विवाद उठ खड़ा होता था । परन्तु कोलीय वंश की दो कन्याओं महामाया और महाप्रजापति गौतमी का विवाह शाक्यवंशीय राजा शुद्धोधन के साथ होने के कारण ये झगड़े कुछ काल के लिए शांत हो गये थे तथा लुम्बिनी का उद्यान दोनों राज्यों का प्रमुख आमोद–स्थान बन गया था । बौद्ध ग्रंथों में लुम्बिनी की कथा इस प्रकार मिलती है :

"जब प्रसव-काल अत्यन्त निकट आ गया तो मायादेवी ने भारतीय परम्परा के अनुसार अपने पिता के घर जाने की इच्छा प्रकट की । तदनुसार महाराज शुद्धोधन ने उन्हें सोने की पालकी में बैठा कर भेजा । मार्ग में साल वृक्षों से युक्त लुम्बिनी का अनुपम उद्यान पड़ता था जिसकी प्राकृतिक छटा ने महामाया को अनायास ही अपनी ओर आकर्षित किया । वे विश्राम की इच्छा से थोड़ी देर के लिए वहीं ठहर गयीं । उद्यान के प्राकृतिक सौन्दर्य का निरीक्षण करते-करते वे एक साल वृक्ष की शाखा का सहारा लेकर खड़ी हो गयीं । उसी समय उन्हें प्रसव-पीड़ा होने लगी । राजकर्मचारियों ने उनके चारों ओर परदे डाल दिये और उन्होंने तत्काल इसी वृक्ष के नीचे एक बालक को जन्म दिया जो आगे चल कर विश्व का एक महान् धर्मनिर्देशक हुआ और जिसके चरण-चिन्हों पर चल कर आज भी आधा एशिया गौरव का अनुभव कर रहा है । कहा जाता है कि बालक के जन्म के समय समस्त देवगण उसके दर्शन के लिए आये और नवजात शिशु तथा माता को अमूल्य उपहार भेंट किये । बालक को स्नान कराने के हेतु नन्द तथा उपनन्द नामक दो नाग मंगल-कलश भर कर जल लाये । बालक को देखने के लिए इन्द्र एवं ब्रह्मा भी उस समय वहां आये । इसके पश्चात् माता एवं शिशु कपिलवस्तु ले जाये गये जहां उत्साह एवं आनन्द की अपूर्व धारा उमड़ पड़ी । बालक के उत्पन्न होने के कारण महाराज शुद्धोधन की चिरवांछित अभिलाषा पूर्ण हुई अतः उन्होंने शिशु का नाम सिद्धार्थ रक्खा ।

लुम्बिनी का महत्व स्वयं भगवान् बुद्ध ने मरते समय अपने शिष्यों को महापरि-निर्वाण सूत्र में व्यक्त किया था । उस समय अपने चारों ओर खड़े भिक्षु समुदाय को सम्बो-

धित कर उन्होंने चार स्थानों का उल्लेख किया और वहां आने-जाने रहने का उन्हें आदेश दिया। ये चार स्थान हैं—'लुम्बिनी', जहां भगवान बुद्ध का जन्म हुआ था; 'बोधगया', जहां उन्हें ज्ञान प्राप्त हुआ था; 'सारनाथ', जहां उन्होंने अपना प्रथम उपदेश दिया था और 'कुशीनगर' जहां उन्होंने शरीर त्यागा था। बुद्ध धर्म के उत्थान-काल में इन स्थानों का महत्व अत्यधिक रहा परन्तु उसकी अवनति के साथ-साथ इनका महत्व कम हो गया और कालान्तर में जब बुद्ध-धर्म का भारत से लोप हो गया तो ये स्थान भी भुला दिये गये।

लुम्बिनी-वाटिका का पता सन् १८९६ ई० में डाक्टर फुहरर ने लगाया था। उत्तर प्रदेश के प्राचीन स्थानों की खोज के सिलसिले में इस विद्वान् ने लुम्बिनी में थोड़ी सी खुदाई कराई। उसे वहां अशोक द्वारा स्थापित एक स्तम्भ भग्नावस्था में प्राप्त हुआ और इस पर उत्कीर्ण लेख से इस स्थान का लुम्बिनी होना सिद्ध हुआ। अशोक ने बौद्ध होने के बाद एक बार अपने धार्मिक गुरु उपगुप्त से उन स्थानों को देखने की इच्छा प्रकट की जिन्हें भगवान बुद्ध ने अपनी चरण-रज से विशेष रूप से पवित्र किया था। सम्राट के इच्छानुसार आचार्य उन्हें सर्वप्रथम लुम्बिनी ले गये। लुम्बिनी-उद्यान के निकट पहुंच कर अपनी दाईं भुजा से उद्यान की ओर संकेत करते हुए उन्होंने अशोक से कहा "महाराज, यह वही महास्थान है जहां महात्मा बुद्ध ने जन्म लिया था, अतएव यहां सबसे पहले एक महत्वपूर्ण स्मारक की स्थापना होनी चाहिए। तदनुसार अशोक ने एक लाख स्वर्ण-मुद्रा की लागत से वहां एक भव्य स्तूप बनवाने की आज्ञा दी। साथ ही एक स्तम्भ की भी स्थापना करायी और उस पर अपनी इस स्थान की यात्रा का उल्लेख कराया। लुम्बिनी का वर्णन प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान तथा ह्वेनसांग के भ्रमण-वृत्तान्तों में भी आया है। फाहियान के अनुसार कपिलवस्तु के पूर्व ५० ली अर्थात् लगभग पौने नौ मील की दूरी पर एक वाटिका थी जिसका नाम लुम्बिनी था। इस वाटिका के तालाब में महामाया स्नान करने गयीं। स्नान करने के बाद उन्होंने अपना हाथ उठाया और एक झुकी हुई शाखा को सहारे के लिए पकड़ा और ऐसी अवस्था में पूर्वाभिमुख होकर उन्होंने कुमार को जन्म दिया। कुमार जब भूमि पर आये तो वे उठकर सात पग आगे चले। उसके बाद दो नागराजों ने प्रकट होकर उनको स्नान कराया। जिस स्थान पर उन्होंने नवजात शिशु को स्नान कराया था वहां तुरन्त एक कूप बन गया। ह्वेनसांग का वर्णन फाहियान से अधिक विस्तृत है। उसने लिखा है कि इस स्थान पर एक तालाब था जिसे शाक्यों ने बनवाया था। जिस स्थान पर दोनों नागराजों ने नवजात शिशु को

स्नान करवाया था वहां बाद में एक स्तूप बनवाया गया था । इसके अतिरिक्त जहां से ये दोनों प्रकट हुए थे वहां भी दो स्तूप बने थे । इन स्तूपों के समीप एक विशाल स्तम्भ था, जिसका शीर्ष भाग घोड़े से अलंकृत था । सम्भवत: यही वह अशोक स्तम्भ है जो खुदाई में डाक्टर फूहरर को प्राप्त हुआ था ।

इसके बाद लुम्बिनी वाटिका का कोई ऐसा विवरण नहीं मिलता, जिसको ऐतिहासिक महत्व दिया जा सके । सम्भवत: हूणों के आक्रमण के कारण यह स्थान नष्ट-भ्रष्ट होकर अन्धकार गह्वर में विलीन हो गया और फिर कभी न पनपा । सन् १८६६ ई० में अपनी पुरातत्व विषयक खोज के सिलसिले में डा० फूहरर इस स्थान का पुन: पता लगाकर इसके प्राचीन महत्व एवं गौरव को पुन: प्रकाश में लाये और तब से बौद्ध जगत् में यह स्थान पुन: प्रख्यात हुआ । प्रकृति की सुरम्य उपत्यका में यहां इतिहास एवं संस्कृति के जिज्ञासुओं को अब भी अनेक आकर्षण की वस्तुएं देखने को मिलती हैं । कुछ महत्वपूर्ण स्थलों का विवरण नीचे दिया जाता है :—

अशोक स्तम्भ

लुम्बिनी स्थान का सबसे बड़ा आकर्षण अशोक का अभिलिखित स्तम्भ है, जिसे उसने अपने राज्याभिषेक के २०वें वर्ष अर्थात् लगभग २५४ ई० पूर्व में भगवान तथागत के जन्म-स्थान की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के निमित्त स्थापित किया था । यह स्तम्भ देखने में भूमि से केवल १० फुट ऊंचा था । लेकिन खुदाई करने पर इसकी वास्तविक ऊंचाई २२ फुट ४ इंच प्रमाणित हुई । मूल भाग में इस स्तम्भ की परिधि ८ फुट ३ इंच है, जो क्रमश: ऊपर की ओर कम होती जाती है । अन्य अशोक-स्तम्भों की भांति यह स्तम्भ भी प्रारम्भ में संभवत: ६०–७० फुट ऊंचा रहा होगा और कालांतर में किसी दुर्घटना के कारण टूट गया होगा । स्तम्भ का शीर्ष भाग अब तक प्राप्त नहीं हुआ है । संभवत: यह घोड़े की आकृति से सुसज्जित था, जिसका वर्णन ह्वेनसांग ने किया है । स्तम्भ पर आधार से साढ़े नौ फुट ऊपर ब्राह्मी लिपि एवं पाली भाषा में निम्न लेख उत्कीर्ण है :—

१—देवना (पि) येन पिन दसिन, लजीना विसतीवसभि सितेन
२—प्रतन अगच महीयते हिद बुद्धे जाते श क्य मुनि ति
३—शिला विगदभि च कलपित सिला थाभे च उसपापिते
४—हिद भगवन जातेति लुम्मिनी गामे उबलिके कते
५—अथ भगीये च

"क्योंकि इस स्थान पर शाक्य मुनि (महात्मा बुद्ध) का जन्म हुआ था। इसलिए धर्मप्रिय प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने अपने राज्याभिषेक के बीस वर्ष के बाद इस स्थान की पूजा की। उन्होंने आकृति-युक्त एक प्रस्तर-शिला की स्थापना के साथ-साथ एक प्रस्तर स्तम्भ की भी रचना करवाई, जिससे यह प्रमाणित हो कि 'परम भाग्यशाली' (महात्मा बुद्ध) ने यहां पर जन्म लिया था।"

माया देवी का मंदिर

स्तम्भ की पूर्व दिशा में एक छोटा सा आधुनिक मंदिर है, जिसमें प्रवेश करने के लिए सीढ़ी से होकर जाना पड़ता है। मंदिर की देख-रेख एक पुजारी करता है। इसमें एक शिलापट्ट स्थापित है, जिस पर भगवान बुद्ध के जन्म की कथा अंकित है। मूर्ति में बुद्ध-जननी महामाया अपने दायें हाथ से साल वृक्ष की झुकी हुई शाखा को पकड़े हुए खड़ी हैं। उनके निकट उनकी भगिनी प्रजापति गौतमी तथा परिचारिकाएं खड़ी दर्शायी गयी हैं। समीप ही इन्द्र का भी चित्रण किया गया है, जो कथानकों के अनुसार बुद्ध-जन्म के समय उन्हें उठाने आये थे। सबसे नीचे कमल पर खड़े बालक बुद्ध को दिखाया गया है। कहा जाता है कि पैदा होते ही बुद्ध जी उठकर खड़े हो गये थे और भूमि पर सात पग चले थे। मूर्ति का शिल्प गुप्तकाल का है और कला की सजीवता से ओतप्रोत है। यह मूर्ति खुदाई से प्राप्त हुई थी और उसे निकाल कर मंदिर में स्थापित किया गया था। मंदिर की रचना एक भग्न स्तूप के ऊपर की गयी है, जिसके चारों ओर एक पक्का चबूतरा बांधा गया है। चबूतरे के चारों ओर लोहे का बाड़ा बना है। यह चबूतरा मंदिर के बाद बनवाया गया था, जिसके कारण मंदिर के फर्श से अधिक ऊंचा है। चबूतरे से एक जीना नीचे की ओर भी गया है।

अशोक-स्तम्भ का शीर्ष भाग

मंदिर के प्रवेश-द्वार के उत्तर और दक्षिण में अनेक टूटी-फूटी मूर्तियों के ढेर हैं, जिनमें से बहुत सी साधारण कला की हैं। केवल एक मूर्ति, जिसकी आकृति उल्टे कमल की सी है दृष्टव्य है, यद्यपि यह बहुत जीर्ण अवस्था में है तथापि इस पर मौर्य-कला के सौष्ठव की पूरी छाप वर्तमान है, जिससे ज्ञात होता है कि सम्भवत: यह अशोक-स्तम्भ के ऊपर का शीर्ष भाग रही होगी।

स्तूप एवं विहार के भग्नावशेष

मंदिर से नीचे उतर कर आगे चलने पर अनेक इमारतों के भग्नावशेष

देखने को मिलते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण एक बहुत बड़े स्तूप के भग्नावशेष हैं। इस स्तूप की रचना प्रारंभ में अशोक ने करवाई थी जैसा कि इसकी ईंटों से ज्ञात होता है। दुर्भाग्य से अब इसकी केवल नींव ही बच रही है। इस स्तूप के समीप एक आयताकार बड़े विहार के भी अवशेष देखने को मिलते हैं। खुदाई करते समय इसमें बहुत सी वस्तुएं उपलब्ध हुई थीं, जिनमें से बुद्ध-मूर्तियां मिट्टी की मुहरें (सील) तथा मृण्मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ तांबे की भी मूर्तियां प्राप्त हुई थीं, जिनमें गणेश की एक मूर्ति ध्यान के योग्य है।

प्राचीन कूप

मंदिर के चबूतरे के पूर्वी भाग में सीढ़ी से उतरते ही एक कूप मिलता है, जिसका सम्बन्ध भगवान् बुद्ध के जन्म से है। फाहियान ने इसकी चर्चा करते हुए लिखा है, "ज्यों ही कुमार ने जन्म लिया वे खड़े होकर सात कदम चले। तब दो नागराज प्रकट हुए और उन्होंने कुमार तथा उनकी माता को स्नान कराया। जहां यह कार्य सम्पन्न हुआ था वहां उसी क्षण एक कूप बन गया, जिसका जल भिक्षु लोग अत्यन्त श्रद्धा के साथ ग्रहण करते हैं।" कहा जाता है कि यह वही कूप है।

लुम्बिनी तालाब

कूप के आगे भग्नावशेषों से कुछ दूर एक चौकोर तालाब है, जिसकी लम्बाई चौड़ाई ५०′×५०′ है। तालाब के चारों ओर पानी तक पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी हुई हैं। इसी सर में भगवान बुद्ध के जन्म के पूर्व मायादेवी ने स्नान किया था। स्नान करने के पश्चात् वे २० पग ही आगे चली थीं तभी उन्हें प्रसव-पीड़ा का अनुभव होने लगा। इस सर के आगे तिलार नदी बहती है, जिसका उल्लेख चीनी-यात्रियों ने किया था और जिसके पानी में तेल की मिलावट आज भी मालूम पड़ती है।

दो आधुनिक स्तूप

इनका निर्माण नेपाल सरकार ने कई वर्ष पूर्व खुदाई में प्राप्त ईंटों से कराया था।

बुद्धगया

बिहार प्रदेश में गया रेलवे स्टेशन से ७ मील की दूरी पर बौद्धों का सर्वश्रेष्ठ तीर्थ-स्थान बुद्धगया अथवा बोध-गया स्थित है। प्रत्येक बौद्ध-यात्री अपनी धर्म-यात्रा इसी स्थान से आरम्भ करता है, क्योंकि भगवान् तथागत यहीं बोधि-वृक्ष के नीचे 'सम्मा सम्बुद्ध' हुए थे। भगवान बुद्ध के ज्ञान प्राप्त करने के पूर्व तक यह स्थान उरूवेल अथवा उरूबेला के नाम से प्रसिद्ध था, परन्तु बाद में यह बोधिमंडप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विश्व के महान् धर्म-प्रणेता के ज्ञान-प्राप्ति का स्थान होने के कारण बोध-गया आज केवल बौद्धों का ही नहीं अपितु विश्व के सभी पुरातत्व-वेत्ताओं इतिहासज्ञों एवं विद्वानों की यात्रा का भी स्थान बन गया है।

गया बिहार प्रदेश में पूर्वी-रेलवे का प्रमुख स्टेशन है। यह कलकत्ते से २९२ मील , पटना से ५६ मील, तथा बनारस से १४० मील की दूरी पर है। गया स्टेशन से उतर कर यात्री किसी भी सवारी द्वारा अथवा पैदल ही निरंजना नदी के किनारे-किनारे पक्की सड़क से चल कर बुद्ध मन्दिर सरलतापूर्वक पहुंच सकते हैं। यहां उनके ठहरने के लिए सभी प्रकार की सुविधाएं सुलभ हैं। वे मुख्य रूप से दो स्थानों , एक महाबोध-सभा द्वारा निर्मित विश्राम-गृह तथा दूसरा श्री युगल किशोर बिड़ला द्वारा बनवाये बिड़ला-धर्मशाला में ठहर सकते हैं। इनके अतिरिक्त एक चीनी धर्मशाला तथा सरकारी डाक-बंगला भी है, जहां ठहरने के लिए स्थान सरलता से प्राप्त हो सकता है।

भारतवर्ष के बौद्ध क्षेत्रों में बोधगया ही अकेला वह स्थान है जिसका गौरव यवन एवं ब्रिटिश काल में भी क्षीण नहीं हुआ और बुद्ध जी के समय से आज तक अक्षुण्ण बना रहा। बौद्ध ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध के पहले भी यह स्थान अपनी प्राकृतिक छवि और शांत वातावरण के लिए प्रसिद्ध था और वहां अनेक सिद्ध योगी निवास करते थे। कौडिन्य आदि ब्राह्मण उरूवेल नामक इस प्राचीन स्थान पर आकर पहले से ही यह जानकर निवास करने लगे थे कि इसी

स्थान पर कुमार सिद्धार्थ को चरम ज्ञान की उपलब्धि होगी। उन दिनों यहां १० हजार तपस्वी निवास करते थे। उरूबेल शब्द का अर्थ विद्वानों ने भिन्न-भिन्न बताया है। कुछ लोगों के मत से इसका अर्थ 'बालू के टीलों का समूह' है। कुछ लोग 'तालाबों से भरा हुआ प्रदेश' अथवा 'बेल' वृक्षों से परिपूर्ण स्थान बताते हैं। यह स्थान पहले जटिल सम्प्रदाय का मुख्य केन्द्र था और इसके तत्कालीन प्रमुख आचार्य उरूबेल, कश्यप आदि यहीं निवास करते थे। किन्तु इस स्थान का ऐतिहासिक महत्व उस समय से ही आरम्भ होता है जब से भगवान् बुद्ध ने अपनी महान् तपश्चर्या के फलस्वरूप दिव्य ज्ञान को प्राप्त किया। तब से लेकर बौद्ध धर्म के उत्कर्ष के साथ-साथ इस स्थान की महत्ता एवं उत्कृष्टता निरन्तर बढ़ती रही। इस दीर्घकाल में यहां भव्य मन्दिरों, विहारों एवं स्तूपों के रूप में अनेक प्रतीकों की रचनाएं हुईं। खेद है कि समय के प्रवाह में उनमें से अधिकांश नष्ट हो गये तथापि बहुत से महत्वपूर्ण स्थान अब भी शेष हैं।

बौद्ध धर्म के सर्वश्रेष्ठ संरक्षक सम्राट अशोक ने इस स्थान की यात्रा अपने शासन काल में कई बार की थी जिनमें से एक यात्रा का दृश्य सांची के तोरण-द्वार पर भी अंकित है। इस दृश्य से यह भी अनुमान किया जाता है कि अशोक ने यहां एक बौद्ध मन्दिर की भी स्थापना की थी यद्यपि आज उसके कोई चिन्ह उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार अशोक ने यहां एक स्तम्भ भी स्थापित कराया था जैसा कि हमें सारनाथ से प्राप्त एक शिलापट्ट पर उत्कीर्ण दृश्य से ज्ञात होता है यद्यपि इसका भी अब कोई चिन्ह प्राप्त नहीं है। सम्भवतः ये स्मारक हूणों आदि बर्बर जातियों के आक्रमण के कारण नष्ट हो गये हों अथवा इन पर दूसरे राजाओं ने कालान्तर में अपने समय के स्मारक बनवा दिये हों। बुद्ध-गया के मन्दिर का उल्लेख फाहियान तथा ह्वेनसांग दोनों ने अपने यात्रा-वृत्तान्तों में किया है जिसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि वर्तमान महाबोधि मन्दिर की रचना ई० पू० दूसरी शताब्दी अर्थात् शुंग काल की है। इसकी पुष्टि मन्दिर से प्राप्त परिवेष्टन आदि की कला से भी होती है। इससे इतना तो निश्चित है कि ह्वेनसांग के समय तक यह मन्दिर अपनी मूलावस्था में था। वैसे तो इस मन्दिर का क्रमबद्ध इतिहास हमें नहीं मिलता है तथापि पुरातत्व अन्वेषणों से इतना तो सिद्ध है कि १२वीं शती में मुसलमानों के आने तक केवल भारत के ही नहीं अपितु लंका, बर्मा आदि अन्य बौद्ध देशों के लोगों ने भी यहां अनेक विहारों एवं चैत्यों की रचना एवं

मरम्मत करवाई थी। सबसे पहिले गुप्त-वंशीय सम्राट समुद्रगुप्त के समय ३५० ई० में लंका के राजा मेघवर्ण ने यहां लंका निवासी बौद्ध भिक्षुओं के लिए एक विहार बनवाया था। तत्पश्चात् लगभग १०७९ ई० के बर्मा के बौद्ध-भिक्षुओं ने बुद्ध-गया के मन्दिर का पूर्णरूप से जोर्णोद्धार कराया। किन्तु राजनैतिक कारणों से कुछ ही काल में मंदिर पुनः टूट गया और धम्मक्खितर (धर्मरक्षित) नाम के किसी बरमी म्बौद्ध-भिक्षु ने ११०० ई० से १२०० ई० के बीच, सपदलक्ष के राजा अशोक मल्ल के व्यय से, यहां के मन्दिर का पुनः जीर्णोद्धार किया था। हाल में प्राप्त एक अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बुद्ध-गया का मन्दिर मंगल स्वामी नामक एक बौद्ध-भिक्षु के अधिकार में रहा। किन्तु कुछ ही समय के पश्चात् मुसलमानों के आक्रमण के डर से बौद्ध भिक्षु यहां से भाग गये और यह मन्दिर किसी की देख-रेख के विना रह गया। इसके पश्चात् १६ वीं शताब्दी तक का इतिहास अन्धकारमय है। सन् १५९० में गोसाईं घमंडीदास गीर ने मन्दिर पर अपना अधिकार जमाया और तब से इसका निरीक्षण उसके वंशज, जो अपने को महन्त कहते हैं, के अधिकार में चला गया।

सन् १८११ ई० में बरमा के राजा ने इस तीर्थ-स्थान की यात्रा की थी और उसके कुछ ही दिनों बाद आवा के राजा ने भी अपने दो कर्मचारियों को बुद्ध-गया का ठीक-ठीक पता लगाने के लिये भेजा था। ठीक एक साल बाद १८१२ ई० में प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ डा० मिल्टन ने इस स्थान का निरीक्षण किया। उस समय यहां की सभी इमारतें अधिकांश नष्ट हो चुकी थीं और इनका संरक्षण करने वाला कोई न था। सन् १८३३ ई० में बरमा के राजदूत (मेंगी मह चेसू) ने बुद्ध-गया की यात्रा की और बरमी लिपि में लिखे हुए एक पाली अभिलेख का पता लगाया, जिसमें बुद्ध-गया के मन्दिर बनाने वालों के नामों का उल्लेख था। सन् १८७४ ई० में बरमा नरेश ने ६० हजार रुपये की भेंट देकर अपने राजदूत को बुद्ध-गया में एक परिभोग-गृह बनवाने के लिए भेजा। परन्तु महन्तों की उदासीनता से यह कार्य सम्पन्न न हो सका। तत्पश्चात् भारत सरकार ने श्री कनिंघम और डा० राजेन्द्रलाल मित्र को यहां की इमारतों की मरम्मत और बरमी बिहार की रचना की देखभाल के लिए नियुक्त किया। किन्तु इसी बीच अंग्रेजों और बर्मियों के बीच संघर्ष आरम्भ हो जाने से बरमा के प्रतिनिधियों को भारत छोड़ कर जाना पड़ा और बुद्ध-गया के मन्दिर पर महन्त और भारत की सरकार का पूर्ण अधिकार बना रहा। किन्तु बौद्धों की

बढ़ती हुई अभिरुचि देखकर भारत सरकार ने लगभग एक लाख रुपये की लागत से यहां बोधि-मंदिर तथा निकटवर्ती अन्य प्राचीन इमारतों की मरम्मत कराई और उनके नष्ट होने को रोका।

बुद्ध-गया के इतने गौरवशाली इतिहास ने कुछ अमूल्य चिन्ह अब भी अपने अतीत की कहानी मौन भाषा में सुना रहे हैं, अतः दर्शकों की सुविधा के लिए उनका वर्णन यहां अत्यन्त आवश्यक है :

महाबोधि मंदिर

बुद्ध-गया का सबसे महत्वपूर्ण स्मारक महाबोधि मन्दिर है, जो भारतीय वास्तुकला का अद्वितीय उदाहरण है। इस मन्दिर की रचनाशैली का प्रभाव बड़ा व्यापक रहा है। बरमा के पौगान नामक प्रसिद्ध स्थान पर इसी शैली का एक मन्दिर बनवाया गया है। इसके अतिरिक्त नैपाल में भी इसी शैली के आधार पर एक मन्दिर बनवाया गया था। भारत में तो इसने मन्दिरों के निर्माण की प्रमुख शैली ही स्थापित कर दी। इस मन्दिर का आधार भाग वर्गाकार है, जिसकी एक भुजा ४६ फुट लम्बी है। चारों कोनों पर बनी हुई मुख्य शिखर की छोटी-छोटी प्रतिकृतियां पूरे मन्दिर को अनुपम सौष्ठव प्रदान करती हैं। मन्दिर का द्वार पूर्व की ओर है और इसमें प्रवेश करने के पहले पत्थर के बने हुए एक फाटक को पार करना पड़ता है। यह फाटक बड़ा विशाल और प्रभावशाली है। इसके सामने एक छोटा सा स्तूप बना हुआ है। फाटक के दोनों ओर बने हुए अन्तरालों में बुद्ध प्रतिमाएं रखी हुई हैं। तिब्बत के कुछ यात्रियों ने इन पर सोने का रंग चढ़ा दिया है। फाटक के अन्दर एक प्रांगण है, जिसे पार करने पर मन्दिर का मुख-द्वार मिलता है। मन्दिर का गर्भ-गृह अंधकार से भरा है और केवल प्रमुख द्वार से ही थोड़ा प्रकाश इसके अन्दर तक पहुंच पाता है। इस गर्भ-गृह में भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्ति स्थापित है, जो भूमि स्पर्श मुद्रा में है। वर्तमान पुजारियों ने प्रतिमा को योगिया रंग का वस्त्र और उसके मस्तक को तिलक से सुशोभित किया है। यह बौद्ध परम्परा के विरुद्ध और पौराणिक प्रथा के अनुकूल है। अतः बौद्ध धर्मावलम्बी इन उपकरणों को हटाकर प्रतिमा की पूजा करते हैं।

इस मन्दिर के ऊपर दूसरी मन्जिल भी है, जिस पर पहुंचने के लिए मन्दिर के बाहरी मण्डप से दो सीढ़ियां बनी हैं। ऊपर पहुंच कर मन्दिर के मुख्य शिखर

के चारों ओर घूमा जा सकता है। चारों कोनों पर मुख्य शिखर के अनुरूप चार छोटे शिखर हैं जिनमें से पश्चिम की ओर के दोनों शिखरों में बोधिसत्वों की प्रतिमाएं हैं। शेष दोनों शिखरों में, जहां तक पहुंचने के लिए सीढ़ियां बनी हैं, बुद्ध प्रतिमाएं स्थापित हैं। यहीं पश्चिम की दीवाल के मुख्य अन्तराल में भी भगवान् बुद्ध की एक अद्भुत प्रतिमा स्थापित है। संभव है अपने मूलरूप में प्रत्येक अन्तराल में इसी प्रकार की मूर्तियां रही हों। पूरे मन्दिर की रचना ईंटों से की गयी है, जिसपर चूने का पलस्तर किया गया है। अन्तरालों में जो मूर्तियां स्थापित हैं वे भी ईंटों की ही बनी हैं और इन पर सुनहरा रंग चढ़ा हुआ है।

इस मन्दिर की विस्तृत चर्चा प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-वृत्तान्त में की है यद्यपि फाहियान ने इसका कोई भी उल्लेख नही किया है। इससे अनुमान होता है कि इस मन्दिर को वर्तमान् स्वरूप फाहियान के बाद दिया गया था। इस अनुमान की पुष्टि इस बात से और होती है कि वर्तमान मन्दिर का स्वरूप ह्वेनसांग के वर्णन से अत्यधिक मिलता है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि ह्वेनसांग के समय से यह मन्दिर लगभग अपने मूलरूप में ही चला आ रहा है। ह्वेनसांग के ही वर्णन से यह भी ज्ञात होता है कि इस वर्तमान मन्दिर के स्थान पर आरम्भ में सम्राट अशोक ने एक छोटा-सा विहार बनवाया था और बाद में एक ब्राह्मण ने उस पर किसी विशाल भवन की रचना करवाई थी। पहले यह ब्राह्मण बौद्ध न हो कर शैव था। अपने वर्णन में ह्वेनसांग ने आगे यह भी लिखा है कि इस ब्राह्मण को महादेव जी ने ही बुद्धगया में बुद्ध मन्दिर बनवाने का आदेश दिया था और उसने वैसा ही किया जिसके फलस्वरूप वह राजमन्त्री-पद पर आसीन हुआ। श्री कनिंघम के अनुसार यह ब्राह्मण अमर कोष का प्रसिद्ध रचयिता अमर सिंह था। इसी स्थान पर प्राप्त एक अभिलेख द्वारा जो ६४८ ई० में लिखा गया था यह ज्ञात होता है कि इस मन्दिर की रचना विक्रमादित्य की राजसभा के प्रसिद्ध नवरत्नों में से अमरदेव ने करवाई थी। यह अमरदेव ही अमर सिंह थे जो कालिदास और वराहमिहिर के समकालीन (५०० ई०) थे। इसके अतिरिक्त इसी स्थान से प्राप्त एक दूसरे अभिलेख से यह ज्ञात होता है कि मूल मन्दिर की रचना सम्राट अशोक ने करवाई थी। बाद में नष्ट हो जाने के कारण इसका निर्माण नायक महन्त नामक किसी ब्राह्मण ने करवाया था। जब वह भी नष्ट हो गया

तो उसका निर्माण थडी नामक राजा ने करवाया। जब वह भी नष्ट हो गया तो उस को श्री धर्म्मपाद राजगुण ने बनवाया।

बोधिवृक्ष

मन्दिर के पश्चिम में विख्यात बोधिवृक्ष है जिसके नीचे तपस्या कर संन्यासी सिद्धार्थ बुद्धत्व को प्राप्त हुए थे। यह वृक्ष लगभग १०० फुट ऊंचा है। ऐसा कहा जाता है कि जिस दिन कुमार सिद्धार्थ का जन्म हुआ था उसी दिन इस वृक्ष का अंकुर फूटा था, जो समय को पाकर एक सघन वृक्ष के रूप में बदल गया। सम्राट अशोक अपनी दुर्भावनाओं का शमन करने के लिए इस वृक्ष के दर्शन के लिए बार-बार जाते थे। कहा जाता है कि उनकी रानी को यह बहुत बुरा लगता था और उसने आदमियों को भेज कर एक बार यह वृक्ष कटवा डाला। यह देख कर कि वृक्ष कट गया सम्राट मूर्छित होकर गिर पड़े। जब चेतना आयी तो उन्होंने यह आज्ञा दी कि वृक्ष की जड़ों को ईंटों की दीवारों से घेर दिया जाय और सौ घड़े गाय के दूध से उसको सींचा जाय। उन्होंने यह भी प्रतिज्ञा की कि जब तक वृक्ष का अंकुर नहीं फूटेगा तब तक वे पृथ्वी से नहीं उठेंगे। इस प्रतिज्ञा के करते ही वृक्ष फिर से अंकुरित हो बढ़ने लगा। उसके बाद उसी वृक्ष की एक शाखा को अशोक की पुत्री संघमित्रा लंका ले गई और अनुराधपुर के पवित्र नगर में उसका आरोपण किया। लगभग २,५०० वर्ष पुराना यह वृक्ष आज भी सघन रूप में खड़ा है और इतिहास का साक्षी है। छठी शताब्दी में बंगाल के राजा शशांक ने राजनीतिक कारणों से इस वृक्ष को नष्ट करवा दिया था, किन्तु सौभाग्य से उसके स्थान पर एक दूसरा वृक्ष उग आया। सन् १८७० ई० में जब श्री कनिंघम पुराने मन्दिर की मरम्मत करवा रहे थे तब यह वृक्ष पुनः गिर पड़ा था। किन्तु देख-रेख के पश्चात् कुछ ही काल में यह सघन बन गया। तब से आज तक यह वहीं अपने स्थान पर खड़ा है।

बौद्ध धर्म में इस बोधिवृक्ष की जितनी प्रतिष्ठा है उसको शब्दों में व्यक्त नहीं किया जा सकता। कुमार सिद्धार्थ जब आधी रात में प्रासाद के सुखों को त्याग कर ज्ञान पाने की अभिलाषा से बाहर निकले तो अनेक स्थानों पर घूमने के पश्चात् वे राजगृह से उरुवेला पहुंचे। इस स्थान की प्राकृतिक रमणीयता ने उनको इतना आकृष्ट कर लिया कि छः वर्षों तक वे इसी स्थान पर रह कर अमृत ज्ञान पाने के लिए कठिन तपश्चर्या करते रहे। उस समय बोधि-

सत्व निराहार रहने के कारण दुर्बल हो गये थे। उनका स्वर्ण सा रंग काला पड़ गया था। उनके शरीर में विद्यमान महापुरुषों के ३२ लक्षण छिप गये थे। इतना ही नहीं एक बार श्वासरहित ध्यान करते समय बहुत ही क्लेश से पीड़ित एवं बेहोश हो कर वे अपने आसन से गिर भी पड़े थे। तब कुछ देवताओं ने कहा कि "श्रमण गौतम मर गये"। उसके बाद बोधिसत्व फिर चैतन्य हुए। धीरे-धीरे वे भिक्षा के लिए फिर से गांवों और बाजारों में जाने लगे और एक बार वे फिर से स्वस्थ हो गये। उन्हीं दिनों निरंजना नदी के पार सेनानी नामक कस्बे में सुजाता नाम की एक गृहस्थ कन्या ने तरुणी होने पर एक बरगद से यह प्रार्थना की थी कि यदि समान जाति के कुल में पति पा कर पुत्र लाभ करूंगी तो प्रति वर्ष एक लाख मुद्राओं से उसकी उपासना करूंगी। उसकी यह कामना सफल हुई और उसने वैशाख पूर्णिमा के दिन अपूर्व खीर पका कर बोधिवृक्ष के नीचे बैठे हुए बोधिसत्व को वृक्ष-देवता समझ कर अर्पित की और कहा जैसा मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ, वैसे ही तुम्हारा मनोरथ भी पूरा हो।

इस खीर को खा कर बोधिसत्व ज्ञान प्राप्ति की प्रतिज्ञा कर के ४६ दिनों तक निरन्तर साधना में बैठे रहे। इस समय मार की सेना ने उनका ध्यान चंचल करने के लिए प्रत्येक अस्त्र का प्रयोग किया, लेकिन उनका वज्रासन अडिग रहा। मार वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती आग, बालू, कीचड़ और अन्धकार वृष्टि से भी बोधिसत्व के ध्यान को चंचल न कर सका। तब स्वयं बोधिसत्व से जा कर बोला सिद्धार्थ! "इस आसन से उठ, यह तेरे लिए नहीं मेरे लिए है। तब सिद्धार्थ ने उत्तर दिया "मार! तूने तो दस पारमितायें पूरी कीं, न उपपारमिताएं, न परमार्थ की पारमिताएं, न पांच महान् त्याग ही तूने किये, न जाति के हित का काम, न लोकहित का काम, न ज्ञान का आचरण किया। यह आसन तेरे लिए नहीं है, यह मेरे लिए है।"

यह सुन मार अपनी सेना के साथ भाग खड़ा हुआ। इस प्रकार सूर्यास्त के पूर्व ही उस महान् शास्ता ने प्रथम याम में पूर्व जन्मों का ज्ञान, मध्यम याम में दिव्य चक्षु ज्ञान तथा अन्तिम याम में प्रतीत्य समुत्पाद-ज्ञान को प्राप्त किया।

प्रतीत्य समुत्पाद-ज्ञान, कार्य कारण के वास्तविक संबंध का ज्ञान है, जो इस प्रकार से कहा जाता है। भगवान् बुद्ध ने यह जाना कि अविद्या के कारण संस्कार होता है, संस्कार के कारण विज्ञान होता है, विज्ञान के कारण नाम-रूप, नाम- रूप के कारण

छः आयतन, छः आयतनों के कारण स्पर्श, स्पर्श से वेदना, वेदना से तृष्णा , तृष्णा से उपादान, उपादान से भव, भव से जाति (जन्म), जाति से बुढ़ापा, मरण, शोक, रोना-पीटना, दु:ख , चित्त-विकार, चित्त-खेद आदि उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार से इस दु:खमय संसार की रचना होती है । इसलिए अगर दु:ख से छुटकारा पाना है, तो पहले अविद्या को नष्ट करने का प्रयास करना चाहिए । अविद्या के नष्ट होने से संस्कार नष्ट हो जाता है । संस्कार के नष्ट हो जाने से विज्ञान नष्ट होता है । इसी प्रकार क्रमशः दु:खमय संसार नष्ट हो जाता है और परम निर्वाण की प्राप्ति होती है। इस ज्ञान को पाकर भगवान् बुद्ध शाश्वत् आनन्द से प्रफुल्लित हो उठे और उस आनन्दातिरेक में कहा कि,

"अनेक जन्मों से मैं उसको खोजता फिरता था जिसने दु:खमय गृह की रचना की थी लेकिन मैं उसे नहीं पा सका । बार-बार जन्म लेना दु:खमय है। लेकिन इस (दु:खमय) गृह के हे ! शिल्पी आज मैंने तुमको देख लिया है । आज तुम मेरे लिए ऐसे गृह की रचना फिर से नहीं कर सकोगे। तुम्हारे गृह की छत को संभालने वाले शहतीर टूट चुके हैं और खम्भे नष्ट हो चुके हैं। मेरी चेतना निर्वाणोन्मुख है और मैं तृष्णा के अन्त को पा चुका हूं ।"

सप्त स्थान–

इस चरम ज्ञान प्राप्त करने के बाद भगवान् बुद्ध ४९ दिनों तक अर्थात् एक-एक सप्ताह, सात विभिन्न स्थानों में रहे। प्रथम सप्ताह में वे बोधिवृक्ष के नीचे ही ज्ञानानन्द में निमग्न बैठे रहे। दूसरे सप्ताह में वे उस स्थान पर जाकर कृतज्ञता भरी दृष्टि से बोधिवृक्ष को देखते हुए बैठे रहे, जहां पर आज 'अनिमेष लोचन' नामक स्तूप बना हुआ है। यह स्तूप ईंटों का बना हुआ है और ५५ फुट ऊंचा है। अपने आधार भाग में यह वर्गाकार है। बीच में एक १६ फुट लम्बाई-चौड़ाई का कमरा है जिसका प्रवेश-द्वार भी पूर्व की ओर है **और** जहां बोधिसत्व की एक छोटी सी प्रतिमा रखी हुई है।

महाबोधि मंदिर के उत्तर दिशा वाली दीवार के साथ-साथ एक ऊंचा उठा हुआ चबूतरा है जो ६० फुट लम्बा और तीन फुट ऊंचा है। इस स्थान पर भगवान बुद्ध ने सात दिन तक टहलते हुए प्राप्त ज्ञान का मनन किया था। इस चबूतरे पर स्तम्भों के चिन्ह अभी तक पाये जाते हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि

इसके ऊपर कोई छत रही होगी। चबूतरे पर कमल के फूलों के बीच भगवान् बुद्ध के पद चिन्हों का भी अंकन है।

उसके बाद भगवान् बुद्ध ने एक सप्ताह उस स्थान पर व्यतीत किया था जहां आज 'रत्नघर' नामक बिना छत का मन्दिर स्तूपों के बीच में बना हुआ है। यह मन्दिर भी मुख्य मन्दिर के उत्तरी भाग में बना हुआ है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जब इस स्थान पर भगवान् बुद्ध ध्यान-मग्न हो कर बैठे, तो उनके पुण्य शरीर से सात रंग की किरणें निकली थीं। ये रंग क्रमशः नील, पीत, रक्त, धवल, हरित एवं नारंगी और इन सबों के सम्मिलित रूप थे। रत्नघर का मन्दिर १४ फुट चौड़ा है और इसकी केवल दीवारें ही अब शेष बची हैं। इस मन्दिर के चारों ओर छोटे-छोटे बहुत से स्तूप हैं।

इस स्थान पर वास करने के उपरान्त भगवान बुद्ध ने पांचवां सप्ताह अजपाल निग्रोध वृक्ष के नीचे, छठा सप्ताह मुचलिन्द झील के तट पर और अन्तिम सप्ताह राजयतन वृक्ष के नीचे व्यतीत किया। इनमें से अजपाल निग्रोध-वृक्ष और राजयतन वृक्ष का स्थान अब तक निश्चित नहीं हो पाया है। अजपाल निग्रोध वृक्ष के नीचे सुजाता की दासी ने बोधिसत्व को खीर खिलायी थी। उस आहार के बाद वे बोधिवृक्ष के नीचे जाकर ज्ञान की साधना में बैठे थे। पांचवां सप्ताह इसीलिए उन्होंने उक्त वृक्ष के नीचे व्यतीत किया। छठा सप्ताह उन्होंने मुचलिन्द झील के तट पर व्यतीत किया था, जो महाबोधि मन्दिर से दक्षिण में एक मील की दूरी पर है। आज भी उस स्थान पर एक छोटा सा तालाब है जिसे ग्रामवासी लोग 'मुचरि' कहते हैं। बौद्ध कथानकों के अनुसार जब भगवान् बुद्ध इस झील के तट पर ध्यानावस्थित बैठे थे तब एक बहुत भयंकर तूफान उठा। यह देखकर कि भगवान भीग रहे हैं और उन्हें साधना में कष्ट हो रहा है, नागराज मुचलिन्द ने जो इस झील में रहते थे बाहर निकल कर अपने फण को उनके ऊपर छत्र के समान फैला कर वर्षा और आंधी से उनकी रक्षा की थी। इस तालाब के किनारे एक स्थान पर ईंटों का प्राचीन ढूह मिलता है, जो इस बात का सूचक है कि यहां पहले कोई इमारत रही होगी।

मंदिर की परिवेष्टनि

महाबोधि मंदिर के चारों ओर प्रारम्भ में पत्थर की सुन्दर परिवेष्टनि

थी जिसकी रचना शुंग काल में हुई थी । इसका बहुत कुछ भाग अब टूट कर नष्ट हो गया है । जो कुछ भाग बचा है उसके स्तम्भों पर अनेक प्रकार की सुन्दर आकृतियां उत्कीर्ण हैं । स्थान-स्थान पर ब्राह्मी लिपि में अभिलेख भी हैं जिनमें दाताओं के नाम लिखे हुए हैं।

मंदिर के चारों ओर बने हुए स्तूप

महाबोधि मन्दिर के चारों ओर तथा विशाल प्रागंण में अनेक छोटे-छोटे स्तूप हैं जिनकी रचना विभिन्न काल में की गयी थी । ये सभी स्तूप भूरे या काले रंग के पत्थर के बने हुए हैं । सम्भवतः उपासक, उपासिकाओं ने मनौती के रूप में इन स्तूपों के रचना की प्रतिज्ञा की थी और मनोकामना पूरी हो जाने पर उन्होंने यहां इन स्तूपों को बनवाया था । इसीलिए इतने स्तूपों की रचना यहां पर संभव हो सकी ।

बोधिमंड या वज्रासन

महाबोधि मन्दिर और बोधिवृक्ष के बीच में पत्थर का बना हुआ एक चबूतरा है जिस पर बैठ कर भगवान बुद्ध ने पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था । मार के अत्यधिक चेष्टा करने पर भी भगवान् बुद्ध अपने तप से विचलित नहीं हुए और वज्र की भांति अपने आसन पर दृढ़ रहे। इसी कारण इसका नाम वज्रासन पड़ा ।

पंच_पांडव मंदिर

महाबोधि विहार के प्रवेश-द्वार की ओर एक साधारण सी सफेद इमारत है, जिसे भ्रमवश लोग पंच-पांडव का मन्दिर कहते हैं । इस मन्दिर में एक ही पंक्ति में दो कमरे हैं, जिनके अन्दर पांच प्रतिमाएं स्थापित हैं, जो बोधि-सत्वों की हैं । लेकिन हिन्दुओं की श्रेष्ठ श्रद्धा पाने के लिए महंतों ने इसका उपरोक्त नामकरण किया है, अतः श्रद्धालु हिन्दू-जन इन पर पैसे आदि चढ़ाते हैं ।

प्राचीन विहार की आधार नींव भूमि

महाबोधि मन्दिर के दक्षिण-पश्चिम में एक आयताकार चबूतरा सा है, जो उस विशाल विहार की आधार-भूमि मानी जाती है, जिसकी रचना लंका के राजा मेघवर्ण ने ३३० ई० में लंका के भिक्षुओं के रहने के लिए करवाई थी। यह विहार पूरी तरह से नष्ट हो गया है और अब इसकी नींव ही शेष बची है।

निरंजना नदी

मुख्य मन्दिर से लगभग २०० गज की दूरी पर निरंजना अथवा लीलाजन नाम की एक छोटी सी नदी बहती है । वर्षा ऋतु के अतिरिक्त यह नदी शेष वर्ष भर लगभग सूखी सी रहती है । कहा जाता है कि इसी नदी में स्नान कर भगवान बुद्ध ने अपना भिक्षा-पात्र नदी की धारा में फेंक दिया था और बुद्धत्व प्राप्त करने का पवित्र व्रत लिया था । बुद्धगया से लगभग ७ मील की दूरी पर इसी नदी के बायें तट पर 'विष्णु पाद' नामक प्रसिद्ध मन्दिर है, जहां हिन्दू लोग पिंड-दान देते हैं । पहले इस स्थान का नाम ब्रह्म-गया था ।

सुजाता कुटी

निरंजना नदी के दूसरे तट पर डेढ़ मील की दूरी पर एक ऊंचा टीला है, जो 'सुजाता का भवन' माना जाता है । यह वही सुजाता है जिसने तपस्या के कारण कृपित बुद्ध को खीर खिलाई थी ।



सारनाथ

काशी से लगभग ५ मील उत्तर की ओर सारनाथ का प्रसिद्ध ऐतिहासिक भग्नावशेष है। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार यहां भगवान बुद्ध ने बोधगया में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् अपना उपदेश अज्ञात कौन्डिन्य आदि पूर्व परिचित पांचों साथियों को दिया था। इसका प्राचीन नाम 'ऋषि पतन' तथा 'मृगदाव' था। 'ऋषि पतन' का अर्थ फाहियान ने 'ऋषि का पतन' बतलाया है जिसका आशय है, वह स्थान जहां किसी एक बुद्ध ने गौतम बुद्ध की भावी संबोधि को जानकर निर्वाण प्राप्त किया था। दूसरे नाम 'मृगदाव' के पड़ने का कारण निग्रोध-मृग जातक में इस प्रकार दिया है:—

"किसी पूर्व जन्म में गौतम बुद्ध तथा उनके भाई देवदत्त सारनाथ के जंगलों में मृगों के कुल में जन्मे थे और मृगदलों के अग्रणी थे: उस समय काशी नरेश उक्त वन में मृगया के निमित्त आते थे और मृगों का वध किया करते थे। राजा के इस नृशंस कार्य से द्रवित हो हरिणराज बोधिसत्व ने उनसे प्रार्थना की कि वे मृगया करना बन्द कर दें और प्रतिदिन एक हिरण क्रम से उनके पास पहुंच जाया करेगा। राजा ने उनकी प्रार्थना मान ली और यह क्रम निर्बाध चलता रहा। संयोग से एक दिन देवदत्त के समूह की एक गर्भवती हरिणी की बारी आयी। उसने बोधिसत्व से अपने गर्भ की रक्षा की प्रार्थना की। बोधिसत्व मृगराज उसकी प्रार्थना से अत्यन्त द्रवित हुए और उसके स्थान पर स्वयं काशी नरेश के पास चले गये और वास्तविक स्थिति बता कर अपने आपको वध के निमित्त प्रस्तुत किया। काशी नरेश उनकी इस दयालुता से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यह कह कर कि मनुष्य के रूप में होते हुए भी वस्तुतः मृग मैं हूं और आप मृग के रूप में होते हुए भी मनुष्य हैं। उन्होंने उसी समय से उस वन में मृगया करना सदैव के लिए बन्द कर दिया और उसे मृगों के स्वच्छन्द विचरण के लिए छोड़ दिया। इसीलिए इस स्थल का नाम 'मृगदाव' अर्थात् मृगों का स्थान पड़ा।" जनरल कनिघम के मतानुसार आधुनिक नाम 'सारनाथ' की उत्पत्ति 'सारंगनाथ' मृगों के नाथ अर्थात् गौतम बुद्ध शब्द से हुई है।

काशी से सारनाथ जाने के लिए पक्की छायादार सड़क है और यहां से किसी भी समय यात्री मोटर, तांगे, इक्के, रिक्शे, आदि द्वारा वहां पहुंच सकते हैं। बनारस छावनी से उत्तर-पूर्वी रेलवे द्वारा भी सारनाथ स्टेशन पर उतर कर यात्री एक मील चलकर वास्तविक स्थान तक पहुंच सकते हैं। यहां कई धर्मशालाएं भी हैं जिनमें यात्री सुविधानुसार ठहर सकते हैं।

सारनाथ का इतिहास बुद्ध जी के यहां पर दिये गये उपदेश के समय से प्रारम्भ होता है। किन्तु इस समय से लगभग ३०० वर्ष बाद तक के यहां के इतिहास का न कोई पता है और न उस समय के कोई स्मारक ही मिले हैं। संभवतः इस काल में थोड़े बहुत भिक्षु जो यहां रहते थे वे पर्णकुटियों से ही काम चलाते थे। सब से प्राचीन स्मारक जो सारनाथ मे अब तक प्राप्त हुए हैं, वे मौर्यवंशी सम्राट् अशोक के समय के हैं। इनमे से चार (१) अशोक स्तम्भ, जो मुख्य मन्दिर के पश्चिम की ओर अपने मूल स्थल पर आज भी विद्यमान है, (२) धर्मराजिका स्तूप, जो स्तम्भ के दक्षिण की ओर स्थित है और जिसकी अब नींव ही भर बच रही है, (३) एक ही पत्थर में काट कर बनायी गयी वेदिका, जो मुख्य मन्दिर के दक्षिण भाग में रखी हुई है और जो संभवतः प्रारम्भ में धर्मराजिका स्तूप के ऊपर हर्मिका के रूप में थी, किन्तु बाद में गिर जाने के कारण किसी उपासक के द्वारा वर्तमान स्थान पर रख दी गयी है और (४) एक गोलाकार मंदिर जिसकी अब भी केवल नींव ही शेष है, प्रमुख हैं। अशोक के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी उतने शक्तिशाली न रहे। अतः बौद्ध धर्म का धीरे-धीरे ह्रास होने लगा था। इसी समय शुंगों का आधिपत्य हुआ, जो वैदिक धर्म को मानने वाले थे। यद्यपि शुंग राजाओं से संबंधित कोई भी स्मारक यहां से नहीं मिले हैं तथापि श्री हार्ग्रीव्स को सन् १९१४–१५ की खोदाई में इस युग की बहुत सी पुरातत्व सामग्रियां प्राप्त हुई थीं, जो उस काल के सारनाथ की उन्नति की ओर संकेत करती हैं। ई० सन् की प्रथम शताब्दी में सारनाथ कुषाण-नरेश कनिष्क के आधिपत्य में आया। यह कुषाण वंश का सब से प्रतापी राजा था और बौद्ध धर्म की महायान शाखा का अनुयायी था। विद्वानों का मत है कि कनिष्क के ही समय में सर्वप्रथम बुद्ध-मूर्तियां बननी आरम्भ हुई थीं। बुद्ध-चरित तथा सौन्दरानन्द नामक काव्यों के रचयिता अश्वघोष तथा महायान शाखा के प्रवर्तक वसुमित्र इसके समकालीन थे। अतः इनके युग में बौद्ध धर्म की उन्नति स्वाभाविक ही थी।

किन्तु सारनाथ के इतिहास का सब से गौरवपूर्ण युग गुप्तकाल में आया। भारतीय इतिहास के इस स्वर्णयुग में कला, शिल्प, व्यवसाय, वाणिज्य, उद्योग, धर्म, साहित्य, विज्ञान, आदि सभी दिशाओं में अत्यधिक उन्नति हुई जिसकी पूरी छाप सारनाथ की कला पर पड़ी। इतना ही नही इस युग में सारनाथ उत्तरी भारत में एक प्रकार से कला का सर्वप्रधान केन्द्र था। परन्तु सभ्यता के इस उत्कृष्ट युग में तोरमाण और मिहिरकुल के संचालन में हूणों ने इस देश पर आक्रमण किये और उत्तरी भारत के शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य को छिन्न-भिन्न कर डाला। बौद्ध धर्म का शत्रु होने के कारण सारनाथ भी इनके आक्रमणों से न बच सका। इसका प्रमाण प्रारम्भिक गुप्तकाल की उन मूर्तियों से मिलता है, जो खोदाई में एक कमरे में बुरी तरह ठुंसी तथा जली हुई अवस्था में प्राप्त हुई थीं। सौभाग्य से आक्रमण की यह भयंकर घटा अधिक स्थायी न रही और ५३० ई० में बालादित्य एवं यशोवर्मा जैसे प्रतापी नरेशों के नेतृत्व में भारतीय राजाओं ने मिहिरकुल को परास्त कर भारत की सीमा के बाहर भगा दिया।

इसके कुछ ही काल बाद मौखरी और वर्धनों का प्राधान्य हुआ और वे उत्तरी भारत में शक्तिशाली हुए। यद्यपि इस काल का कोई प्रमाणिक लेख उपलब्ध नहीं हो सका है तथापि अन्य स्मारकों द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि एक बार पुनः सारनाथ ने अपनी प्राचीन गरिमा प्राप्त कर ली थी। इस बात की पुष्टि प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के यात्रा-वृत्तान्त से भी सिद्ध होती है। उसने सारनाथ को कन्नौज के राजा के अधीन एवं बहुत सम्पन्न स्थिति में बताया है। यह राजा निश्चित ही महाराज हर्षवर्धन था। हर्ष के पश्चात् लगभग एक शताब्दी तक एक बार पुनः सारनाथ का इतिहास अन्धकार में डूब जाता है। कारण, यह युग राजनीतिक अशान्ति का था। ९वीं शताब्दी के मध्य में कन्नौज के सिंहासन पर प्रतिहार वंश के प्रमुख नरेश आदिवराह मिहिरभोज लगभग ५० वर्ष तक आसीन रहे और उनके पश्चात् उनके उत्तराधिकारी जो महमूद गजनवी के आक्रमण-काल तक सत्तारूढ़ रहे। इतनी लम्बी अवधि तक शासन-शक्ति होते हुए भी प्रतिहारों द्वारा स्थापित कोई भी स्मारक सारनाथ में अब तक उपलब्ध नहीं हो सका। हां, पालवंशी नरेशों के समय की कई मूर्तियां खुदाई में उपलब्ध हुई हैं। इनमें सबसे अधिक महत्वपूर्ण संवत् १०८३ की एक बुद्ध-मूर्ति की लेखयुक्त चरण-चौकी है जिससे यह ज्ञात होता है कि महीपाल

के शासनकाल (९९२–१०४० ई०) में स्थिरपाल और बसंतपाल नाम के दो भाइयों ने धर्मराजिका अथवा अशोक-स्तूप का जीर्णोद्धार कराया था और बुद्ध की यह मूर्ति बनवायी थी। इसी से यह सिद्ध होता है कि १०२६ ई० में सारनाथ पाल-नरेशों की राज्यसीमा में था।

संभवतः मध्य भारत पर साम्राज्य सत्ता स्थापित करने के निमित्त महीपाल नरेश को गांगेयदेव कलचुरी (१०३०–१०४१ ई०) के साथ एक लम्बे संघर्ष में व्यस्त होना पड़ा था, जिसमें विजय गांगेयदेव के पक्ष में रही। इसकी पुष्टि गांगेयदेव के पुत्र कर्णदेव (१०४१–१०७० ई०) के समय के एक शिलालेख से होती है, जिसमें सारनाथ को ११ वीं शताब्दी में कलचुरी साम्राज्य का एक अंग कहा गया है। अधिकार-परिवर्तन के इस काल में सारनाथ पर अंतिम सत्ता कन्नौज के गहड़वालों की रही। खोदाई में प्राप्त एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि गोविन्द चन्द्र (१११४–११५४ ई०) की रानी कुमार देवी ने सद्धर्मचक्रजिन-विहार नामक एक विशाल संघाराम की रचना करवायी थी, जो दक्षिण भारत के मन्दिरों के अनुरूप थी। गोविन्द चन्द्र के पौत्र जयचन्द्र मुहम्मद बिन साम द्वारा ११९३ ई० में पराजित हुए थे और उसी समय उसके सेनापति कुतुबद्दीन ऐबक ने काशी पर आक्रमण करके वहां के अनेक मंदिरों को नष्टभ्रष्ट कर दिया। संभवतः सारनाथ के विहारों एवं मन्दिरों को भी उसी ने नष्ट किया था। खोदाई में प्राप्त भग्नावशेषों की स्थिति से यह स्पष्ट हो जाता है कि सारनाथ के वैभव की इतिश्री ध्वंसकारी आक्रमणों एवं अग्निकांडों के फलस्वरूप ही हुई थी, जिनके फलस्वरूप और धीरे-धीरे वहां का गौरव अन्धकार में सर्वथा विलीन हो गया।

सारनाथ का वर्तमान ऐतिहासिक परिचय केवल संयोग मात्र है। सन् १७९४ ई० में काशी-नरेश चेतसिंह के दीवान जगतसिंह ने काशी में जगतगंज नामक मोहल्ला बनवाने के लिए मजदूरों को अशोक स्तूप को खोदकर ईंट एवं पत्थर लाने के निमित्त भेजा। उस समय खोदाई में प्राप्त अवशेषों ने पुरातत्ववेत्ताओं का ध्यान उस ओर आकर्षित किया और सारनाथ पुनः प्रकाश में आया। इसके पश्चात् व्यवस्थित रूप से खोदाई का कार्य सर्वप्रथम जनरल कनिंघम ने १८३६ ई० में कराया। उन्होंने व्यक्तिगत व्यय से धमेख स्तूप, चौखंडी दूह तथा एक मध्य-कालीन विहार के कुछ भागों को खोद कर निकाला। इसके अतिरिक्त उन्हें कुछ

मूर्तियां भी यहां से मिली जो अब कलकत्ते के संग्रहालय में है। इसके पश्चात् मेजर किटो के परिश्रम से एक स्तूप तथा एक विहार और प्रकाश में आये। १९०१ ई० में पुरातत्व विभाग के स्थापित हो जाने पर सारनाथ में और भी व्यापक ढंग से खोदाई हुई जिसके फलस्वरूप सात विहारों, तीन बड़े स्तूपों, एक मुख्य मन्दिर एवं एक अशोक स्तम्भ के अवशेष प्राप्त हुए। इनमें से विशेष महत्व के स्मारकों का संक्षिप्त परिचय नीचे दिया है :—

चौखंडी स्तूप

सारनाथ के मुख्य क्षेत्र से लगभग आधे मील पहिले तथा सारनाथ स्टेशन से ४ फर्लांग की दूरी पर सड़क की बायी ओर ईटों का एक विशाल टूटा-फूटा ढूह देखने को मिलता है, जो चौखंडी के नाम से विख्यात है। वास्तव में यह एक प्राचीन स्तूप का अवशेष है। कहा जाता है कि यहीं भगवान् बुद्ध की अपने प्रथम पांच शिष्यों से भेंट हुई थी जब वे सारनाथ में अपना प्रथम उपदेश सुनाने आये थे। उसी घटना की स्मृति में इस स्थान पर एक स्तूप बनवाया गया था जिसके ध्वंसावशेष आज चौखंडी के नाम से विख्यात है। १८३६ ई० में जनरल कनिघम ने इस स्तूप के मध्य में कुएं जैसी एक सुरंग खोदी थी, परन्तु उन्हें कोई भी मूल्यवान सामग्री न प्राप्त हो सकी। परन्तु १९०५ ई० में श्री ओरटेल के खोदाई कराने पर इस स्तूप की अठकोनी चौकी एवं ऊंचे चबूतरे मिले थे। इस स्तूप के खंडहर पर जो अठपहलू शिखर है, उसे हिजरी सन् ९९६ (१५८८ ई०) में सम्राट् अकबर ने, अपने पिता हुमायू की इस स्थान की यात्रा की स्मृति में बनवाया था और जिसका उल्लेख उत्तरी द्वार पर लगे हुए प्रस्तर पर उत्कीर्ण लेख में किया गया है।

विहार संख्या—६

सड़क से आधा मील उत्तर दिशा की ओर चलने पर 'मृगदाव' का मुख्य स्थल मिलता है। यहां दाहिनी ओर सड़क के धरातल से नीचे एक बौद्ध विहार के भग्नावशेष है जिसे १८५१-५२ ई० में श्री किटो ने सर्वप्रथम खोदकर निकाला था। इस विहार की ऊपरी बनावट मध्यकाल की है, यद्यपि उसके नीचे गुप्त और कुषाण काल के विहार के भी भग्नावशेष दबे है। इस बात की पुष्टि यहां से प्राप्त मिट्टी की मुहरों एवं ईंटों से होती है जो उक्त काल

की हैं। इन विहारों के ठीक मध्य में सुन्दर मीठे पानी का एक प्राचीन कूप है। आंगन के चारों ओर स्तम्भों पर आधारित लम्बा बरामदा था जिसके पीछे भिक्षुकों के रहने की कोठरियां बनी हैं। विहार का प्रवेशद्वार पूर्वाभिमुख था। दीवाल की मोटाई से विहार का दो-तीन मंजिला होना सिद्ध होता है।

विहार संख्या—७

उपर्युक्त विहार के पश्चिम दिशा की ओर लगभग उसी प्रकार का एक दूसरा विहार भी मिला है। इसका काल लगभग ८ वीं शताब्दी होगा। परन्तु उसके नीचे भी इससे पूर्वकालीन विहारों के खंडहर दबे पड़े हैं।

धर्मराजिका स्तूप

इस विहार से थोड़ी दूर उत्तर की ओर चलकर 'धर्मराजिका' स्तूप के भग्नावशेष हैं। सन् १७९४ ई० में काशी नरेश के दीवान जगतसिंह द्वारा यह स्तूप गिरा दिया गया था और उसके गर्भ में प्राप्त एक सेलखड़ी की पेटी में रखे हुए भगवान बुद्ध के शरीर-चिन्हों को गंगा में फिकवा दिया गया था। सन् १८३५ ई० में जनरल कनिंघम को इन स्तूपों में से प्रस्तर की एक और मंजूषा मिली जिसमें उपरोक्त सेलखड़ी वाली पेटिका किसी समय रक्खी हुई थी। बहुत कुछ नष्ट-भ्रष्ट हो जाने पर १९०७–८ ई० में की गयी खोदाई से सर जान मार्शल ने इस स्तूप के क्रमिक निर्माणों का पूरा-पूरा पता लगा लिया। खोदाई से ज्ञात हुआ है कि मूल स्तूप की रचना सम्राट् अशोक ने करवाई थी। इसका सर्वप्रथम जीर्णोद्धार कुषाण काल में हुआ था। दूसरी मरम्मत हूणों के आक्रमण के पश्चात् छटवीं शताब्दी में की गयी थी। इसी समय इसके चारों ओर १६ फुट चौड़ा एक प्रशिक्षण पथ भी बढ़ा दिया गया। परन्तु संभवतः ७वी शताब्दी में स्तूप को सुदृढ़ बनाये रखने के निमित्त इस प्रशिक्षण पथ को ईंटों से भर दिया गया और चारों दिशाओं में पत्थर की सात डंडों वाली सीढ़ियां स्तूप तक पहुंचने के लिए लगवा दी गईं। तीसरी बार स्तूप का जीर्णोद्धार बंगाल-नरेश महीपाल ने महमूद गजनवी के आक्रमण के लगभग दस वर्ष बाद १०२६ ई० में कराया। अंतिम पुनरुद्धार लगभग ११९४ ई० में धर्म-चक्रजिन विहार के निर्माण के समय का ज्ञात होता है।

तब से १७६४ ई० तक यह अपनी जीर्ण-शीर्ण अवस्था में चलता रहा जब जगत सिह को ईंटों की लालच ने दबाया।

मुख्य मंदिर

धर्मराजिका स्तूप के सामने उत्तर दिशा में 'मृगदाव' के मध्य में लगभग २२ फुट ऊंचे मुख्य मन्दिर के चिन्ह दिखाई पड़ते हैं। ह्वेनसांग ने इसका उल्लेख मूलगंध कुटी के नाम से अपने यात्रा वृत्तान्त में किया है और इसकी ऊंचाई २०० फुट बताई है। कला की दृष्टि से यह मन्दिर गुप्तकाल का मालूम होता है, परन्तु इसके चारों ओर निर्मित मध्यकालीन फर्शों एवं अनियमित रूप से लगे हुए सादे एवं उत्कीर्ण प्रस्तरों को देख कर कुछ विद्वान इसे लगभग आठवीं शताब्दी में बना मानते हैं। मन्दिर के गर्भगृह में किसी समय स्वर्ण-आभायुक्त भगवान् बुद्ध की काय-परिमाण प्रतिमा स्थापित थी। मन्दिर में आने के लिए तीनों ओर साधारण तथा पूर्व की ओर सिंह-द्वार बने थे। कालान्तर में मन्दिर में कमजोरी आने के कारण प्रदक्षिणा-पथ को ईंटों से भरकर छत तक मिला दिया गया और इस प्रकार प्रवेश के लिए केवल सिंहद्वार ही शेष रह गया। अन्य तीनों द्वारों के भीतर से बन्द हो जाने से दीवाल से घिरे स्थानों को छोटे मन्दिरों का स्वरूप दे दिया गया और उनमें मूर्तियां स्थापित कर दी गयीं। मंदिर के सामने एक विशाल खुला हुआ प्रांगण था जिसमें उपोसथ के समय समस्त भिक्षु समुदाय एकत्रित होता था। कालान्तर में इस प्रांगण के श्रद्धालुओं ने बहुत से छोटे-छोटे मन्दिरों एवं स्तूपों का अपनी इच्छानुसार निर्माण कर लिया।

ओपदार वेदिका

मुख्य मंदिर के दक्षिण भाग वाली कोठरी में साढ़े नौ फुट लम्बी चौड़ी एक वेदिका रखी है। इसे श्री आर्टेल ने मुख्य मंदिर की खोदाई में निकाला था। वेदिका एक ही पत्थर से काट कर बनाई गई है और उस पर मौर्य-कालीन चमकदार पालिश है। अनुमान किया जाता है कि यह वेदिका आरम्भ में धर्मराजिका स्तूप पर हर्मिका के रूप में थी, किन्तु कालान्तर में किसी दुर्घटना के कारण नीचे गिर गयी। वेदिका पर कुषाण-कालीन ब्राह्मी लिपि एवं पाली भाषा में दो लेख खुदे हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि ई० सन् की ३री शताब्दी

में यह वेदिका सर्वास्तिवादी सम्प्रदाय के आचार्यों को भेंट की गयी थी। यह वेदिका मौर्यकाल की शिल्पकला का बहुत उत्कृष्ट उदाहरण है।

अशोक स्तम्भ

मुख्य मन्दिर से पश्चिम की ओर सम्राट् अशोक के प्रसिद्ध स्तम्भ का निचला भाग मिलता है। यद्यपि इस समय इसकी ऊंचाई केवल ७ फुट ९ इंच है तथापि इसी के समीप रक्खे हुए शेष खंडों से इसकी न्यूनतम ऊंचाई ५५ फुट ज्ञात होती है। खोदाई करने में पता चला है कि इस स्तम्भ की स्थापना एक भारी पत्थर की चौकी पर की गयी है जिसका परिमाण ८ × ६ × १ १/२ फुट है। चुनार प्रस्तर का अत्यन्त ओपदार यह स्तम्भ अपनी निराली पालिश के कारण कभी-कभी ग्रेनाइट होने का भ्रम उत्पन्न कर देता है। स्तम्भ के पिछले भाग में तत्कालीन पाली भाषा एवं ब्राह्मी लिपि में अशोक का प्रसिद्ध लेख उत्कीर्ण है, जिसका मूल एवं अनुवाद नीचे उद्धृत किया जा रहा है :

मूल

(१) देवा (नंपियेपियदसि लाजा).......
(२) ए (ल)
(३) पाट (लिपुते).....ये केनपि संघे भेतवे ए चुंखो
(४) भिखू व भिखुनी वा संघं भखति से ओदातानि दुसानि संबंधपयिया आनावासति।
(५) आवासियिये। हेवं यं सासने भिखुसंघसि च भिखुनीसंघसि विनपयितवियेे।
(६) हेवं देवानं पियं आहा हेदिसा च एका लिपी तुफाकं हुवाति संसलनसि निखिता।
(७) इकं च लिपिं हेदिससेव आसकानंतिक निखिपाथ। तेपि च उपासका अनुपोसथं यादु।
(८) एतमेव सासनं विस्वं सयितवे। अनुपोसथं च ध्रुवाये इकिके महामाते पोसथाये।
(९) याति इतमेव सासनं विस्वं सयितवे अनानितवे च। आवतके च तुफाकं आहाले।
(१०) सवत विवासयाथ तुफै एतेन वियंजनेन। हेमेव सवेसु कोटविसवंसु एतेन।
(११) वियंजनेनं विवासापयाथा।

अनुवाद

"देवताओं के प्रिय, प्रियदर्शी राजा ऐसा कहते हैं कि पाटलिपुत्र तथा प्रान्तों में कोई संघ में फूट न डाले। जो कोई चाहे वह भिक्षु हो वा भिक्षुणी, संघ में फूट डालेगा वह सफेद कपड़े पहिना कर उस स्थान में भेज दिया जायगा जो भिक्षुओं व

भिक्षुणियों के लिए उचित नहीं है। इसी प्रकार हमारी यह राज-आज्ञा भिक्षु-संघ और भिक्षुणी-संघ को बता दी जाय। देवताओं के प्रिय ऐसा कहते हैं। इस तरह का एक लेख आप लोगों के समीप भेजा गया है जिसमें कि आप लोग उसे याद रखें। ऐसा ही एक लेख आप लोग उपासकों के लिए भी लिख दें, जिसमें कि वे हर उपोसथ के दिन आकर इस आज्ञा के मर्म को समझें। साल भर प्रत्येक उपोसथ के दिन, हर एक महामात्र उपोसथ व्रत पालन करने के वास्ते इस आज्ञा के मर्म को समझाने तथा इसका प्रचार करने के लिए जायगा। जहां-जहां आप लोगों का अधिकार हो, वहां-वहां सर्वत्र आप इस आज्ञा के अनुसार प्रचार करें। इसी प्रकार आप लोग सब कोटों और विषयों में भी इस आज्ञा को भेजें।"

अशोक के लेख के अतिरिक्त इस स्तम्भ पर दो और लेख उत्कीर्ण हैं। इनमें से एक अश्वघोष नाम के किसी राजा के शासन काल का है और दूसरा जो लिखावट में चौथी शताब्दी का जान पड़ता है वात्सीपुत्रीक संप्रदाय की सम्मीतीय शाखा के आचार्यों द्वारा उत्कीर्ण है।

धर्म-चक्र-जिन विहार

मुख्य मन्दिर से उत्तर की ओर थोड़ा ऊपर चल कर एक विशाल बौद्ध विहार के अवशेष मिलते हैं। इस विहार को गहड़वाल नरेश गोविन्द चन्द्र देव की रानी कुमार देवी ने बनवाया था। कुमार देवी धर्म से बौद्ध थीं और दक्षिण भारत की रहने वाली थीं। अतः उन्होंने इस विहार की रचना दक्षिणात्य शैली के अनुसार गोपुरम् आदि से अलंकृत करके करवाई थी। विहार का मुख्य द्वार पूर्व की ओर था। इसके पश्चिम में १०० गज लम्बी एक सुरंग है, जिसके अन्त में एक छोटा सा मन्दिर है। सम्भवतः यह मन्दिर कुमार देवी का अपना निजी मन्दिर था, जिसमें वे पूजा करने के लिए गुप्त मार्ग से आया जाया करती थी। इस विहार की खोदाई में एक शिलालेख प्राप्त हुआ था जिससे इसके बनाने वाले का नाम, काल आदि का पूर्णरूप से पता चलता है।

संघाराम संख्या—२,३,४

धर्म-चक्र जिन विहार के क्षेत्र के नीचे तीन पूर्वकालीन अन्य विहारों के अवशेष दबे हैं। ये संघाराम कुषाण-काल में निर्मित हुए थे और इनका

वर्तमान स्वरूप गुप्तकाल में दिया गया था। इससे सिद्ध होता है कि ये संघाराम पहले ५वीं शताब्दी में हूणों द्वारा नष्ट किये गये थे और जीर्णोद्धार के पश्चात् ११ वीं शताब्दी में पुनः मुसलमानों द्वारा नष्ट किये गये।

धमेक स्तूप

संघाराम का क्षेत्र समाप्त होने पर थोड़ा आगे दक्षिण की ओर एक विशाल स्तूप है, जो धमेक के नाम से विख्यात है। संभवतः धमेक शब्द की उत्पत्ति धर्म-चक्र से है। इस स्तूप का श्रीगणेश अशोक के समय में हुआ था। इसका प्रथम संवर्द्धन कुषाण-काल में किया गया था और इसको अपना वर्तमान रूप गुप्त-काल (५वीं शती) में प्राप्त हुआ। इसकी ऊंचाई १४३ फुट तथा घेरा ९३ फुट है। पूरा स्तूप ईंट एवं गारे से बना है। नींव से ३७ फुट की ऊंचाई तक मोटे और भारी पत्थरों से जड़ा हुआ है, जो प्रत्येक तह पर लौह चापों से आबद्ध है। धरातल से लगभग २० फुट की ऊंचाई पर ८ फुट चौड़ी शिलापट्टों की एक पेटी है जिस पर नंद्यावर्त सदृश विविध आकृतियों की सजावट की गई है तथा शिलापट्टों के ऊपर एवं नीचे विविध पुष्पों की बेलें उत्कीर्ण हैं। दक्षिण की ओर इन पुष्पांकित गोठों के बीच कमल पर आसीन एक स्थूल काय यक्ष की मूर्ति निर्मित है और इसी के समीप ऊपर की ओर एक कच्छप तथा हंस-युग्म भी बने हैं। इसके अतिरिक्त स्तूप में आठ उभार-दार रुख भी हैं, जिनमें मूर्तियों के रखने के ताखे बने हैं, जिनमें से कुछ में अब भी मूर्तियों की पीठिकायें रखी हैं।

जैन मंदिर

धमेक स्तूप के दक्षिण में ऊंची चहारदीवारियों से घिरा एक जैन-मन्दिर है, जो जैनियों के ११वें तीर्थंकर श्रेयांशनाथ जी के इसी स्थल पर सन्यास लेने एवं मृत्यु होने की पुण्य स्मृति में सन् १८२४ ई० में बनवाया गया था।

संग्रहालय

जैन-मन्दिर की सीढ़ियों से नीचे सड़क पर सामने संग्रहालय भवन दिखाई पड़ता है। इसका निर्माण १९१० ई० में सम्पन्न हुआ था। संग्रहालय चार कक्षों में विभाजित है—जिसमें सारनाथ से प्राप्त मूर्तियां आदि कालक्रम

के अनुसार प्रदर्शित हैं। इनका विवरण इस प्रकार है—अशोक स्तम्भ का शीर्ष भाग—संग्रहालय में प्रवेश करते ही विश्व-विख्यात सम्राट् अशोक के सिंह-स्तम्भ के शिरोभाग के दर्शन होते हैं। इस पर सबसे ऊपर पीठ से पीठ सटा कर उकड़ूं बैठे चार सिंहों की मूर्तियां हैं। इनकी गर्वीली आंखें, मुंह से बाहर लटकती हुई जीभ, फैली बब्बरी अयालों के बाल एवं फड़कती हुई पैर की नसों का चित्रण भारतीय शिल्पकला की पराकाष्ठा एवं गौरव के परिचायक हैं। आज यही चिन्ह स्वतन्त्र भारत का राष्ट्रीय प्रतीक बन देश को गौरवपूर्ण अतीत के मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा प्रदान कर रहा है। सिंहों के निचले हिस्से में एक फलक है, जो गले के चारों ओर लपेटी हुई एक कंठी सी जान पड़ती है। उस पर चारों दिशाओं में क्रमशः भागते हुए बैल, घोड़ा, सिंह एवं हाथी की उभारदार मूर्तियां बनी हैं। साथ ही प्रत्येक दो जानवरों के बीच में एक धर्म-चक्र अंकित है। इन पशुओं की चाल से खंभे की प्रदक्षिणा के लिए एक संतत गति सी सूचित होती है। फलक के नीचे का भाग उस कमल जैसा है जिसकी पंखुड़ियां उलटी हुई हैं। ७ फुट ऊंचे इस सिंह-शिखर का कोना-कोना अपूर्व सुन्दरता से उत्कीर्ण किया गया है, एवं शीशे जैसी चमकदार पालिश से जगमगाता है जिसके कारण इसे भारतीय शिल्पकला का सर्वोत्तम उदाहरण कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी।

सिंह-शिखर के समीप ही स्तूप, गंधकुटी, धर्मचक्र, त्रिरत्न, कमल, पूर्णघट आदि चिन्हों से सुसज्जित अनेक वेदिकाएं प्रदर्शित हैं। वेदिकाओं के सामने बिना सिर की एक यक्ष मूर्ति है, जो वास्तव में छज्जे की रोक में प्रयुक्त होने वाले तुड़िया का उदाहरण है। वेदिका-स्तंभ के उत्तर की ओर दीवाल के सहारे शीशे की आलमारी है जिसमें छोटे-छोटे स्तम्भों के फलकों के ओपदार टुकड़े, मौर्यकालीन यूनानी ढंग के सिर, अशोक स्तम्भ के छोटे खंड आदि रक्खे हैं।

विशाल बोधिसत्व

सिंह-शिखर के दाहिनी ओर बोधिसत्व की एक विशालकाय मूर्ति है, जो कनिष्क के राज्यकाल के तीसरे वर्ष में भिक्षु बल द्वारा प्रतिष्ठापित की गई थी। यह प्रतिमा मथुरा के चकत्तेदार लाल पत्थर की बनी है। इस पर दो लेख हैं—एक आगे की ओर चरण-चौकी पर तथा दूसरा पीठ पर कुछ नीचे

हटकर, जिससे ज्ञात होता है कि मूर्ति की स्थापना कनिष्क के राज्य के तृतीय वर्ष में शारदीय मास तृतीय में बाइसवें दिन त्रिपिटकों के ज्ञाता भिक्षु बल ने महाक्षत्रप खरपल्लान एवं क्षत्रप वनस्पर के साथ की थी।

मूर्ति के ऊपर प्रारम्भ में पूर्ण विकसित कमल के ढंग का एक विशाल छाता है, जो काल्पनिक पशु-पक्षियों एवं अष्ट मांगलिक चिन्हों से अलंकृत था। यह छाता समीप में ही अलग प्रदर्शित है। इसका आधार दंड (छत्रयष्टि) जिस पर यह छाता टिका था, मूर्ति के पीछे प्रदर्शित है। इस यष्टि पर भी एक लेख है जिससे ज्ञात होता है कि भिक्षु बल पुष्पवृद्धि के शिष्य थे और इन्होंने उपरोक्त तिथि को बोधिसत्व की मूर्ति, छत्र और दंड सहित काशी में भगवान् (बुद्ध) के घूमने के स्थान पर प्रतिष्ठापित किया था। यह प्रतिमा सारनाथ से प्राप्त प्रतिमाओं में सब से अधिक महत्व की है, कारण इसी मूर्ति के आधार पर स्थानीय शिल्पियों ने आगे चल कर बुद्ध मूर्तियों का निर्माण किया था।

सिंह-शिखर के पूर्व और दक्षिण में कुषाण शैली की दो और सुन्दर बोधिसत्व प्रतिमाएं रक्खी हैं जो ऊपर लिखी हुई बोधिसत्व मूर्ति से बहुत समता रखती हैं। ये मूर्तियां सारनाथ के शिल्पियों की सुन्दर कृतियां हैं।

धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में बुद्ध मूर्ति

यह मूर्ति मृगदाव की खोदाई में अब तक प्राप्त बुद्ध मूर्तियों में कला तथा चित्रण के नाते सर्वश्रेष्ठ है। बुद्ध द्वारा मृगदाव में किये हुए धर्मचक्र-प्रवर्तन के मूल में जो आध्यात्मिक भाव था उसी को लगभग एक सहस्र वर्ष बाद गुप्तकाल में सारनाथ के चतुर शिल्पी इस मूर्ति के द्वारा हमारे सामने प्रत्यक्ष प्रकट करने में समर्थ हुए हैं। चौकी पर पद्मासन में बैठे हुए बुद्ध के दोनों हाथ धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में हैं, जो अज्ञात कौन्डिन्य आदि पंचभद्र वर्गीय भिक्षुओं को इस स्थान में दिये गये सर्वप्रथम धर्मोपदेश को सूचित करती है। ये ही पांच भिक्षु नीचे चौकी पर दिखाये गये हैं। बीच में एक चक्र तथा दो मृग बने हैं जो क्रमशः धर्मचक्र तथा मृगदाव के प्रतीक स्वरूप हैं। इनके अतिरिक्त चरणचौकी पर दाहिनी ओर एक स्त्री तथा उसके छोटे बच्चे की भी मूर्तियां अंकित हैं। सम्भवतः इसी स्त्री ने अनुपम छटा से पूर्ण इस मूर्ति को स्थापित किया था। बुद्ध जी के शरीर के पीछे चौकी का पृष्ठभाग है जिस पर दोनों ओर

व्यालक और मकर बने हैं। सिर के पीछे एक सुन्दर छाया-मंडल है, जो बेलबूटों एवं मणिबन्धों से सजा है और जिसके ऊपर देवगण पुष्प वृष्टि कर रहे हैं। देवाधिदेव भगवान् बुद्ध के मुख पर जो प्रशान्त भाव एवं आनन्द की मुद्रा अंकित है उसके कारण यह मूर्ति भारतीय कला की सर्वश्रेष्ठ मूर्तियों में गिनी जाती है।

भूमि-स्पर्श मुद्रा में बुद्ध मूर्ति

भगवान् बुद्ध की अन्य उल्लेखनीय मूर्तियों में लगभग छठीं शती की वह मूर्ति भी जिसमें वे भूमि-स्पर्श मुद्रा में बैठे हुए अंकित किये गये हैं। यह मुद्रा उस अवस्था को सूचित करती है जब भगवान् बुद्ध ने बोधगया में वज्रासन पर बैठ कर मार को हराया तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था। आसन-पीठिका के दाहिनी ओर खंडित मूर्ति देवी वसुन्धरा की है जिसे भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व जन्म की की हुई तपश्चर्या की साक्षी के लिए बुलाया था। दूसरी ओर नर्तन मुद्रा में मार की तीन कन्याओं की मूर्तियां हैं जो भगवान् बुद्ध का तप भंग करने के निमित्त आई थीं। इस पर उत्कीर्ण लेख से सिद्ध होता है कि यह मूर्ति बौद्ध भिक्षु स्थविर बन्धुगुप्त की पवित्र भेंट है।

महायान बौद्ध मूर्तियां

कक्ष के शेष भाग में महायान सम्प्रदाय के बौद्ध देवी-देवताओं की अनेक मूर्तियां हैं, जिनमें से बोधिसत्व, मैत्रेय, भृकुटी तारा, सिद्धैकवीर और लोकनाथ की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं।

संग्रहालय के दूसरे कक्ष की लम्बी दरीची में प्रदर्शित पुरातत्व सामग्री में अधिकांश बुद्ध मूर्तियां एवं शिलापट्ट हैं, जिनपर तथागत के जीवन की एक या अनेक घटनाएं चित्रित हैं। इन मूर्तियों का काल ५वीं से ९वीं शताब्दी तक का है। इनमें सबसे महत्वपूर्ण एक शिलापट्ट है जिस पर भगवान् बुद्ध के जीवन के आठ प्रमुख दृश्य अंकित हैं। सब से नीचे दाहिनी ओर उनका जन्म दिखाया गया है। उसके बगल में मार का पराजय एवं ज्ञान प्राप्ति है। उसके ऊपर कौशाम्बी का चमत्कार है जिसमें एक बन्दर ने बुद्ध जी को मधु से भरा पात्र दिया था और तत्पश्चात् कुएं में गिर कर उनकी कृपा से दिव्य गति प्राप्त की थी। इसके बगल में राजगृह का चमत्कार है जिसमें देवदत्त द्वारा

छोड़े गये मदमत्त हाथी नालागिरि का बुद्ध जी ने दमन किया था, कौशाम्बी के चमत्कार के ऊपर संकिस्सा का चमत्कार अंकित है, जिसमें भगवान् बुद्ध का त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से अपनी माता को उपदेश देने के पश्चात् अवरोहण दिखाया गया है। राजगृह के चमत्कार के ऊपर श्रावस्ती का चमत्कार अंकित है, जिसमें प्रसेनजित राजा के समक्ष बुद्ध जी ने अधर ठहर कर तथा अग्नि एवं जल की मुख से वर्षा करते हुए उपदेश दिया था। सब से ऊपर एक ओर बुद्ध जी का सारनाथ में धर्मोपदेश देना तथा दूसरी ओर कुसीनगर में निर्वाण प्राप्त करना है।

कमरे के मध्य में प्रदर्शित शीशे वाली मेजों में क्रमशः ताम्र-मूर्तियां, मुद्राएं, रजत एवं ताम्र के आभूषण, बुद्ध और बोधिसत्व की छोटी मूर्तियां, सिर, हाथ आदि प्रदर्शित हैं। मेजों के मध्य में स्थित स्तम्भ किसी गुप्तकालीन विहार के हैं।

संग्रहालय के तीसरे कक्ष में प्रवेश करने पर एक कोने में कुछ विशाल घड़े मिलते हैं जो अनाज आदि भरने के काम में आते थे। अन्य प्रदर्शित पुरातत्व सामग्री में से जो सभी माध्यकालीन हैं, अधिकांश विभिन्न मुद्राओं में भगवान् बुद्ध की प्रतिमाएं हैं जो मगध और पालकला की उत्कृष्ट द्योतिकायें हैं। इनमें धर्म-चक्र-प्रवर्तन मुद्रा में आसीन अभिलिखित बुद्ध मूर्ति की एक चरण-चौकी बहुत महत्व की है, कारण इस के लेख से ज्ञात होता है कि ई० १०२६ के लगभग सारनाथ पाल-नरेशों के अधीन था। इस चरण-चौकी के बगल में ही खिले हुए दोहरे कमल पर अर्द्धपर्यन्कासन में बैठे हुए अवलोकितेश्वर की एक मूर्ति रक्खी है जो लगभग १० वीं शताब्दी की है। कमरे में दक्षिण दीवाल से लगी हुई जो शीशे की आलमारियां हैं उनमें दैनिक व्यवहार की ऐसी वस्तुएं प्रदर्शित हैं जिनसे तत्कालीन संघों में रहने वाले भिक्षुओं की जीवन-प्रणाली पर प्रकाश पर पड़ता है। उपर्युक्त आलमारियों के मध्य के रिक्त स्थान में वज्रयान सम्प्रदाय के कुछ प्रसिद्ध देवी-देवताओं की मूर्तियां प्रदर्शित हैं। इनमें मंजुवर, वज्रघंट, हेरुक, मारीची, सरस्वती, वसुधारा, षडाक्षरी, महाविद्या आदि की मूर्तियां विशेष उल्लेखनीय हैं। दरीची के पश्चिमी भाग में सारनाथ से प्राप्त कुछ हिन्दू धर्म की मूर्तियां प्रदर्शित हैं। इनमें अंधक वध करते हुए शिव जी की एक विशाल मूर्ति विशेष महत्व की है। इस कक्ष के बाहर बरामदे में इमारती पत्थर

प्रदर्शित हैं जिनमें एक विशाल सुहावटी, जिस पर धनपित कुबेर एवं शान्तिवादी जातक की कथा चित्रित है, विशेष उल्लेखनीय हैं ।

कक्ष संख्या चार में उन वस्तुओं का प्रदर्शन है जो गौण महत्व की हैं । इन वस्तुओं में विशेष उल्लेखनीय मौर्यकालीन ईंटें हैं जिनका परिमाण २४" × १६" × २ १/२" है । इनके अतिरिक्त दो स्तम्भ-शिखर भी हैं जिन पर भगवान बुद्ध के जीवन के दृश्य अंकित हैं । इन दृश्यों में मुचलिन्द नाग द्वारा बुद्ध की रक्षा तथा व्याघ्र जातक के दृश्य अत्यन्त रोचक ढंग से उत्कीर्ण हैं । प्रथम दृश्य बोधि प्राप्ति के समय का है जब भीषण आंधी-वर्षा आने पर नागराज मुचलिन्द ने अपने फण की छाया भगवान् बुद्ध के सिर पर कर के उनका ध्यान भंग नहीं होने दिया तथा दूसरा दृश्य उस समय का है जब अपने किसी पूर्व जन्म में भगवान बुद्ध ने भूखी व्याघ्री तथा उसके बच्चों की प्राण-रक्षा के निमित्त अपना शरीर अर्पण किया था ।

सारनाथ महादेव का मंदिर

यह मंदिर संग्रहालय से लगभग आधी मील पूर्व की ओर स्थित है । यह देखने में किसी स्तूप के अवशेषों पर बना हुआ है । किम्वदन्तियों के अनुसार इसकी स्थापना शंकराचार्य जी ने अपने दिग्विजय काल में की थी । जो हो, पर इतना निश्चय है कि यह मंदिर प्राचीन है जैसा कि इसके वास्तुकला से विदित होता है । यहां प्रतिवर्ष श्रावण मास में मेला भी लगता है ।

उपरोक्त प्राचीन स्मारकों के अतिरिक्त सारनाथ में बहुत से अन्य दर्शनीय स्थल हैं, जो नये बने हैं और बौद्ध धर्म की ओर लोगों की बढ़ती हुई अभिरुचि के द्योतक हैं । इनमें महाबोधि-सभा द्वारा संपादित मूलगंध कुटी विहार, महाबोधि पुस्तकालय, महाबोधि चिकित्सालय एवं महाबोधि उच्च माध्यमिक विद्यालय, वर्मी भिक्षुओं द्वारा निर्मित बुद्ध मदिर तथा धर्मशाला और चीनी बौद्धों द्वारा निर्मित बुद्ध मंदिर एवं विहार विशेष रूप से दर्शनीय हैं ।

कुशीनगर

अपने महापरिनिर्वाण के समय स्वयं भगवान् बुद्ध ने चार महास्थानों में से कुशीनगर को भी एक बताया है। जिस प्रकार लुम्बिनी भगवान् के जन्म के कारण, बोधगया ज्ञान प्राप्ति के कारण, सारनाथ प्रथम धर्मोपदेश के कारण विख्यात है, उसी प्रकार कुशीनगर शास्ता के महापरिनिर्वाण के कारण अत्यधिक महत्व का है। कुशीनगर, कुशीनारा अथवा वर्तमान कसिया आधुनिक देवरिया जिले में है। गोरखपुर से ३२ मील पूर्व, देवरिया से २१ मील उत्तर तथा पडरौना से १३ मील दक्षिण-पश्चिम की दूरी पर स्थित इस महातीर्थ तक उत्तर-पूर्वी रेलवे के इन तीनों स्टेशनों से बस द्वारा सुगमतापूर्वक पहुंचा जा सकता है। गोरखपुर तथा देवरिया स्टेशनों से पडरौना की अपेक्षा यात्रा अधिक सुगम है। यात्रियों के ठहरने के लिए कुशीनगर में दो धर्मशालाएं हैं जिनमें से एक धर्मशाला बर्मी देश के बौद्ध भिक्षु द्वारा तथा दूसरी आर्यविहार नाम, सेठ जुगुल किशोर बिड़ला द्वारा निर्मित कराई गयी है।

कुशीनगर का इतिहास एवं धार्मिक महत्व भी बौद्ध धर्म एवं भारतवर्ष के इतिहास के साथ ही संबद्ध है। महात्मा बुद्ध के शरीर त्याग के पश्चात् समय-समय पर यहां अनेक स्तूप, चैत्य, विहार आदि की स्थापनाएं हुईं परन्तु बुद्ध-धर्म की अवनति के साथ ही इस स्थान का गौरव भी अतीत की कहानी बन कर विस्मृति के गर्भ में छिप गया। १९ वीं शताब्दी के पुरातत्व विषयक अनुसंधानों के फलस्वरूप विद्वानों का ध्यान पुनः इसकी ओर आकर्षित होने लगा। कुशीनगर प्रधान धार्मिक क्षेत्र होते हुए भी संभवतः ऐतिहासिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण नहीं हो पाया। स्वयं भगवान् के जीवन काल में भी इसकी गणना महत्वपूर्ण स्थानों में न थी, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने अपने प्रमुख शिष्य आनन्द से जब कुशीनगर में शरीर छोड़ने की इच्छा प्रकट की तो आनन्द ने कहा "भन्ते! इस छोटे, जंगली नगर में परिनिर्वाण को प्राप्त न हों। भारत में चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत, कौशाम्बी, वाराणसी

जैसे कई महानगर हैं। आप उन स्थानों में कहीं परिनिर्वाण प्राप्त करें। वहां बहुत से धनी-मानी व्यक्ति आपके भक्त हैं। वे आपके शरीर की पूजा करेंगे।" परन्तु भगवान् ने कुशीनगर के अतीत गौरव की ओर संकेत करते हुए उत्तर दिया, "आनन्द, इस नगर को छोटा न कहो। प्राचीनकाल में यह नगर अत्यन्त सुन्दर वनों से आपूरित था तथा धन-धान्य से सम्पन्न था। आनन्द, इसी स्थान पर मेरी मृत्यु पहले भी छः बार हो चुकी है। यह सातवीं बार मेरा शरीर इस स्थान पर शांत होने जा रहा है।" इस कथन से कुशीनगर का बुद्ध जी के पूर्व जन्मों में एक विशाल नगर होना सिद्ध होता है, किन्तु इस विषय में कोई ऐतिहासिक प्रमाण अभी तक उपलब्ध नहीं हुए हैं। महावंश और द्वीपवंश के अनुसार प्राचीन काल में कुशीनगर अथवा कुशीनारा १२ इक्ष्वाकुवंशी राजाओं की राजधानी रह चुकी थी। इस बीच में कुश और सुदर्शन नाम के दो प्रतापी राजा हुए जिनका उल्लेख स्वयं महात्मा बुद्ध ने किया है। इन वर्णनों के आधार पर इस नगरी की प्राचीनता एवं भव्यता सिद्ध होती है। शक्तिशाली सुदर्शन के समय में इस नगरी का अतिरंजित काव्य वर्णन मिलता है जिसमें इसकी तुलना देवताओं की राजधानी अलकनन्दन से की गयी है। उसकी परिधि-भित्तियों को स्वर्ण, रजत, वैदूर्य, स्फटिक, पद्मराग, आदि अमूल्य धातुओं एवं रत्नों से निर्मित बताया गया है। नगर के अतिरिक्त राजप्रासाद का वैभव और भी अधिक था जिसके आगे एक योजन लम्बी तथा आधी योजन चौड़ी धर्म नाम की एक सुन्दर पुष्करणी बनी थी।

किन्तु इस प्रकार के अपूर्व वैभव वाली वह नगरी महात्मा बुद्ध के समय में लगभग उजाड़ सी हो चुकी थी। उस समय यह युद्धप्रिय, न्यायप्रिय, विनोदी तथा नियमों के पालन में कठोर मल्लों की राजधानी मात्र थी। मल्लों की शासन-व्यवस्था गणतंत्रात्मक थी। बौद्ध-ग्रंथों के आधार पर उस समय कुशीनगर, वास्तु, शिल्प, धनुर्वेद, सुन्दर महीन वस्त्र, स्वर्ण कला आदि अनेक कलाओं का केन्द्र था। कुशीनगर को ही भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण का स्थान क्यों चुना, इसके तीन कारण अट्टकथाचार्य ने बताये हैं। भगवान् बुद्ध ने यह देखा कि अन्य किसी स्थान पर शरीर त्यागने से एक तो महापरिनिर्वाण सूत्र का उपदेश नहीं होगा, दूसरे सुभद्र की प्रव्रज्या न होगी और तीसरे अस्थि-विभाजन में अत्यधिक कलह होगा जिसके फलस्वरूप रक्त की धाराएं बहेंगी। इसलिए अपना अन्तिम समय निकट जान बुद्ध भगवान् वैशाली से चल कर भाऊग्राम, जम्बूग्राम, हस्तिग्राम, आम्रग्राम, भोगनगर होते हुए पावा आये। पावा में उन्होंने चुन्द के यहां अन्तिम बार भोजन किया, जिसकी उन्होंने बड़ी प्रशंसा

की किन्तु इस भोजन के पश्चात् ही भगवान् को रक्तातिसार (रक्त की पेचिश) हो गयी जिसकी मरणान्तक पीड़ा को बिना दुखित उन्होंने सहन कर लिया और आनन्द से कुशीनारा चलने के लिए कहा । मार्ग में उसी अवस्था में उन्हें तीन छोटी नदियां भी पार करनी पड़ीं और २५ बार विश्राम के लिए रुकना पड़ा । बीच में उन्होंने एक बार सोना नदी का जल भी मांग कर पिया । यहीं उन्होंने पुक्कुम नाम के एक मल्ल व्यापारी को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया जिसने भगवान् तथा आनन्द को दो शालें भेंट कीं । इसे धारण कर भगवान के शरीर की आभा अत्यधिक दीप्त हो गयी । उनके शिष्य आनन्द ने जब इसका कारण पूछा तो भगवान् ने बताया "आनन्द, दो समयों में तथागत के शरीर का वर्ण बहुत परिशुद्ध दिखायी देता है, पहला जब उनको पूर्व ज्ञान प्राप्त होता है और फिर दूसरा जिस रात वे आवागमन से रहित महापरिनिर्वाण को प्राप्त करते हैं । इसके बाद वे काकुत्था नदी के तट पर आये । उसमें स्नान कर और उसका पानी पीकर महात्मा बुद्ध ने आनन्द से कहा 'आओ आनन्द ! जहां हिरण्यवती नदी का पहला तट है, जहां कुशीनारा के मल्लों का शालवन उपवत्तन है, वहां चलें ।' वहां पहुंच कर भगवान ने आनन्द से फिर कहा, 'आनन्द ! इन दोनों शाल वृक्षों के बीच उत्तर की ओर सिरहाना कर मंच (पलंग) बिछा दो । मैं थका हूं, लेटूंगा ।' आनन्द ने वैसा ही किया । भगवान् बुद्ध का यह शयन था । उनका अन्तिम समय आया हुआ जानकर आनन्द शोक से विह्वल हो रोने लगे । तब बुद्ध ने उपदेश दिया, 'आनन्द शोक मत करो, मत रोओ । मैंने तो पहले ही कह दिया है कि सभी प्रिय वस्तुओं का वियोग दुखदायी होता है । जो कुछ उत्पन्न है, वह नाश होने वाला है । आनन्द, तूने चिरकाल तक तथागत की सेवा मैत्रीपूर्ण की है । तू कृतपुण्य है । निर्वाण साधन में लगकर जल्दी अनास्रव हो जायेगा ।' इसके बाद भगवान बुद्ध ने मल्लों को बुलवाया और सुभद्र को सद्धर्म का उपदेश दिया । जब रात्रि का पिछला पहर बीत रहा था तब भगवान् बुद्ध ने आनन्द को संबोधित किया 'आनन्द ! संभवतः तुम्हारे मन में मेरे परिनिर्वाण के पश्चात् यह विचार जागे कि यह धर्म चले गये गुरु का है । अब हमारा कोई रास्ता या गुरु नहीं है: तो आनन्द ऐसा मत समझना । मैंने जो धर्म और विनय बतलाये हैं, मेरे बाद वही तुम लोगों के शास्ता या गुरु होंगे ।' उसके बाद भगवान बुद्ध ने भिक्षुओं को निमंत्रित किया और उनसे कहा, 'भिक्षुओ, यदि बुद्ध-धर्म अथवा संघ के विषय में किसी भिक्षु को भी शंका हो तो पूछ ले । पीछे यह कहता हुआ न पछताये कि शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम कुछ पूछ नहीं सके ।

ऐसा सुन कर सब भिक्षु चुप रह गये। भगवान ने दो बार अपने उन्हीं शब्दों को और कहा। जब उन्होंने देख लिया कि कोई भी भिक्षु कोई प्रश्न करने नहीं जा रहा है, तब उन्होंने भिक्षु संघ को अन्तिम उपदेश दिया, 'हन्द दानि भिक्खवे। आमन्तयामि वो वयधम्मा संखारा, अप्पमादेन सप्पदिथाति हन्त।' अर्थात् 'भिक्षुओ! अब मैं तुमसे कहता हूं संस्कार नाशवान है। अप्रमाद के साथ जीवन के लक्ष्य को पूरा करो।' इस अन्तिम उपदेश के साथ भारत का ही नहीं अपितु विश्व की एक अलौकिक प्रतिभा अस्त हो गयी। कुशीनारा के मल्लों ने अत्यन्त आदर के साथ भगवान् के प्राणहीन शरीर की दाहक्रिया सम्पन्न की और उनकी स्मृति में उक्त स्थल पर एक विशाल स्तूप का निर्माण कराया। साथ ही बौद्ध भिक्षुओं के लिए अनेक विहारों को भी बनवाया।

महात्मा बुद्ध के निर्वाण के कुछ ही वर्षों पश्चात् अजातशत्रु ने मल्लों पर विजय प्राप्त कर उसे अपने राज्य में मिला लिया। अजातशत्रु भगवान् बुद्ध का पहले विरोधी था किन्तु बाद म उनका अनन्य भक्त बन गया था। किन्तु अब तक यह नहीं ज्ञात हो सका है कि उसने यहां कोई विहार या स्तूप बनवाया था। शैशुनागवंश के अन्त के पश्चात् कुशीनगर, क्रम से महापद्मनन्द, चन्द्रगुप्त आदि राजाओं द्वारा शासित रहा; परन्तु अन्य प्राचीन बौद्ध तीर्थो की नाईं उन सब के समय में कुशीनगर की प्रतिष्ठा आगे न बढ़ सकी। सबसे प्राचीन स्मारक जिनका उल्लेख हमें इस प्रसंग में मिलता है वे सम्राट अशोक के बनवाये हैं। बौद्ध ग्रंथों से ज्ञात होता है कि उसने एक लाख स्वर्ण मुद्रा व्यय कर के यहां एक विशाल चैत्य बनवाया था। इसके अतिरिक्त चीनी यात्री ह्वैनसांग के भ्रमण वृतान्त से ज्ञात होता है कि यहां दो अशोक स्तम्भ भी थे किन्तु खेद है कि इनमें से कोई भी स्मारक अभी तक नहीं मिल सके हैं। अशोक के पश्चात् कुशाणवंशी राजाओं ने भी यहां विहारों आदि की रचनाएं करायी थीं, जिन में से कुछ के भग्नावशेष यहां प्राप्त हुए हैं। इनके अतिरिक्त कनिष्क के समय की एक मुद्रांकण एवं एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है जिससे इस स्थान का महत्व विदित होता है। किन्तु यह अवस्था अधिक दिन न रही। प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान के समय में कुशीनारा जनविहीन एवं उजाड़ सा पड़ा था। अपने यात्रा-वृतान्त में उसने लिखा है:—
"नगर के उत्तर भाग में शाल के दो वृक्षों के बीच निरंजना नदी के किनारे भगवान् का उत्तर की ओर सिर कर के परिनिर्वाण प्राप्त करने का स्थान है। पीछे सुभद्र परिव्राजक के अर्हत होने का स्थान है। जहां पर भगवान् बुद्ध की पूजा सात दिनों तक की गयी थी। सब जगहों पर स्तूप हैं, संघाराम बने हुए हैं। नगर में बस्ती कम और विरल है।

इधर-उधर श्रमणों के कुछ निवास-स्थान हैं। इस विवरण से यह ज्ञात होता है कि गुप्तकाल के आरम्भ में कुशीनारा की अवस्था ठीक नहीं थी।

किन्तु कुछ ही दिनों बाद कुशीनगर की विशेष उन्नति हुई और चन्द्रगुप्त द्वितीय तथा कुमारगुप्त प्रथम के समय में यहां अनेक नये विहारों और मंदिरों की रचना हुई और प्राचीन विहारों का जीर्णोद्धार भी हुआ। खुदाई से प्राप्त लेखों से ज्ञात होता है कि कुमारगुप्त प्रथम (सन् ४१३ से ४५५ ई०) के समय में हरिबल नामक भिक्षु ने कुशीनारा में भगवान् बुद्ध की महापरिनिर्वाणावस्था में एक विशाल मूर्ति की स्थापना की थी तथा महापरिनिर्वाण स्तूप की मरम्मत करा कर उसे दृढ़ और ऊंचा करवाया था। इस पुनीत अवसर पर हरिबल ने स्तूप के गर्भ में एक तांबे के घड़े में भगवान् की अस्थिधातु तथा कुछ सिक्के रख कर तथा उसे एक अभिलिखित ताम्र-पत्र से ढंक कर स्थापित कर दिया था। किन्तु थोड़े ही समय पश्चात् हूणों के आक्रमण से कुशीनारा की दशा पुनः खराब हो गयी। हर्षवर्द्धन के राज्यकाल में आये हुए चीनी यात्री ह्वेनसांग ने (६४३ ई०) कुशीनारा का वर्णन इस प्रकार किया है—"इस राज्य (कुशीनारा) की राजधानी बिलकुल ध्वस्त हो गयी है। इसके नगर और गांव प्रायः निर्जन और उजाड़ हैं। पुरानी ईंटों की दीवारों का घेरा लगभग १० ली (डेढ़ मील से कुछ ज्यादा) है। इन दीवारों की केवल नीवें ही रह गयी हैं। नगर के पूर्व उत्तर कोने में सम्राट अशोक का बनवाया हुआ स्तूप है। यहां पर पहले चुन्द का घर था जिसके बीच में एक कुआं है।"

ह्वेनसांग ने भगवान् बुद्ध की उस प्रतिमा का भी उल्लेख किया है, जो कुमार-गुप्त के समय में बनी थी और जिसमें उनकी महापरिनिर्वाण की अवस्था को अंकित किया गया था। वह लिखता है कि "यहां पर ईंटों से बना हुआ एक विहार है जिसके भीतर एक मूर्ति भगवान् के परिनिर्वाण की बनी हुई है। सोते हुए पुरुष के समान उत्तर दिशा में सिर करके भगवान् लेटे हैं। विहार के पास एक स्तूप अशोक राजा का बनवाया हुआ है। यद्यपि यह खंडहर हो रहा है तो भी २०० फुट ऊंचा है। इसके आगे एक स्तंभ है जिस पर तथागत के निर्वाण का इतिहास है।" इसके अतिरिक्त ह्वेनसांग ने अन्य स्तूपों की भी चर्चा की है, जो उस काल में बने हुए थे। लेकिन इस वर्णन से यह ज्ञात होता है कि ह्वेनसांग के समय कुशीनारा बहुत ध्वस्त हो चुका था। इमारतों की सिर्फ नीवें ही रह गयी थी।

हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में फिर अराजकता फैल गयी। इस के अतिरिक्त कोई बौद्ध धर्म के पोषक के रूप में प्रतापी राजा भी नहीं हुआ। फलस्वरूप ७ वीं शताब्दी से कुशीनगर का निरन्तर ह्रास होता गया। यदा-कदा इसकी ओर कुछ राजाओं ने अवश्य ध्यान दिया किन्तु ये वैयक्तिक उदाहरण हैं। इनमें कन्नौज के शासक वज्रायुध तथा इन्द्रायुध का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिन्होंने बौद्ध होने के कारण इस स्थान की उन्नति की ओर ध्यान दिया था। अनन्तर ११-१२ शताब्दी में कलचुरी एवं पाल नरेशों ने इस स्थान की उन्नति के लिए प्रयत्न किया जैसा कि माथाबाबा विहार की खुदाई में प्राप्त काले रंग के पत्थर की मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख से पता चलता है। किन्तु इनका प्रभाव अस्थायी था। इसी समय देश में यवनों के आक्रमण होने लगे जिनके कारण कुशीनगर की इतिहास-लीला समाप्त हो गयी। इस बात की पुष्टि १८७६ ई० की खुदाई में परिनिर्वाण मंदिर से प्राप्त जली हुई हड्डियों, लकड़ियों, कोयले, सिक्कों आदि से होती है। तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के वृतान्त से यह ज्ञात होता है कि इस ध्वंस लीला को देख कर थोड़े बहुत भिक्षु जो यहां निवास करते थे, वे भी अपनी जान बचा कर नैपाल, तिब्बत आदि देशों को भाग गये। कुशीनगर अन्धकार गह्वर में विलीन हो गया। यहां तक कि इसका नाम भी बदल गया और लोग इसे 'माथाकुंवर का कोट कहने लगे। सन् १८६१ई० में जनरल कनिंघम जब प्राचीन ऐतिहासिक स्थानों की खोज करते हुए इस स्थान पर आये तो उनको यहां पांच टीले मिले, जिनमें से एक रामाभार का विशाल टीला, दूसरा माथाकुंवर का कोट, तीसरा माथाबाबा का टीला, चौथा अनुरुधवा गांव का टीला और पांचवां बड़ा टीला था। लेकिन उन्होंने ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर इसी क्षेत्र को प्राचीन कुशीनगर घोषित किया, जो बाद में सत्य प्रमाणित हुआ। उन्होंने माथाकुवर के कोट को परिनिर्वाण भूमि, अनुरुधवा गांव को मल्लों की प्राचीन राजधानी और रामाभार को मुकुट-बंधन (वह स्थान जहां पर मल्लों में राज्याभिषेक होता था) का स्थान बताया एवं वहां प्राचीन स्मारक होने का संकेत भी किया। इसके बाद सन् १८७६ ई० में श्री कारलाइल की अध्यक्षता में खुदाई का कार्य पुनः आरम्भ हुआ जो कालान्तर में डा० वोगेल तथा पंडित हीरानन्द शास्त्री के अथक परिश्रम से पूर्ण सम्पन्न हुआ। इन अन्वेषणों एवं खुदाई के फलस्वरूप जो स्मारक एवं महत्वपूर्ण स्थल प्रकाश में आ सके उनका उल्लेख आगे दिया गया है।

भगवान बुद्ध की निर्वाग प्रतिमा

सन् १८७६ ई० में महापरिनिर्वाण विहार की खुदाई करते समय १० फुट के नीचे भगवान् बुद्ध के निर्वाण को एक विशाल मूर्ति प्राप्त हुई थी जिसमें भगवान् बुद्ध महानिर्वाण की अवस्था में लेटे हुए अंकित किये गये हैं। इसका निर्माण पांचवीं शताब्दी में हरिबल नाम के भिक्षु नें, जो अनेक विहारों का स्वामी था, कराया था। मूर्ति के एक भाग में गुप्तकालीन लेख भी खुदा हुआ है, जिसका अर्थ इस प्रकार है-- "महापरिनिर्वाण विहार में स्वामी हरिवल का यह धर्मदान है। यह मूर्ति मथुरावासी 'दिन' द्वारा निर्मित की गयी है। मूर्ति का सिंहासन जो लाल पत्थर का बना हुआ है २४ फुट लम्बा है। इसके निचले भाग में तीन मूर्तियां ताख में खोदकर निर्मित की गयी हैं। इन मूर्तियों में बाईं ओर वाली मूर्ति एक स्त्री की है जो अपने हाथों को झुकाये बैठी है। दाहिनी ओर वाली मूर्ति भगवान् के परम शिष्य आनन्द की है, जो दाहिने हाथ पर सिर रखे चिंतित मुद्रा में चित्रित किये गये हैं। बीच वाली सुभद्र परिव्राजक की है जो त्रिदण्ड को सामने रख कर पल्थी लगाये बैठा है। यह भगवान् का अन्तिम शिष्य था और यही संघ में प्रव्रज्या ली थी। जिस मंदिर में यह मूर्ति पायी गयी थी उसकी लम्बाई ४७ फुट ६ इंच तथा चौड़ाई ३२ फुट थी तथा उसकी दीवारें १० फुट मोटी थीं। मंदिर के पश्चिम भाग में एक गर्भ-गृह मिला था, जिसका परिमाण ३५ फुट ७ इंच तथा १५ फुट था। वर्तमान मंदिर का निर्माण १८७७ ई० में इसी प्राचीन मंदिर की नींव पर किया गया है। इस मंदिर के सामने ही एक कुआं है, जिसका उल्लेख ह्वेनसांग ने किया है।

महापरिनिर्वाण स्तूप

उपर्युक्त मन्दिर के पूर्व में वर्तमान महापरिनिर्वाण स्तूप है। इसकी खोदाई वर्मी बौद्ध लोगों के द्वारा की गयी। १०,००० रु० की सहायता से सन् १९२०ई० के जनवरी मास में डा० हीरानन्द शास्त्री की अध्यक्षता में यह खोदाई हुई थी। खोदाई कराते समय जब इसका ऊपर का गुम्वद हटाया गया तो उसके नीचे बहुत सी नक्काशी-दार ईटें मिली। उनके साथ 'जयगुप्त' का तांबे का एक सिक्का भी मिला था। स्तूप के मध्य भाग में एक ताम्रघट भी प्राप्त हुआ था, जिसमें कुछ कौड़ियां, कीमती पत्थर, सोने का पत्तर और मोती आदि रखे हुए थे। इनके अतिरिक्त ताबें, चांदी एवं सोने की उतार-चढ़ाव से तीन डिब्बियां, कुमारगुप्त के चांदी के ६ सिक्के तथा चन्दन की

लकड़ी का एक टुकड़ा भी प्राप्त हुआ था। ये डिब्बियां निश्चय ही भगवान् बुद्ध के धातु रखने के काम में आती थीं। घड़े का मुहं ताम्रपत्र से बन्द था, जिस पर संस्कृत भाषा एवं गुप्त कालीन लिपि में निदान सूत्र लिखा हुआ है। इस लेख का अन्तिम अंश इस प्रकार है–"देयधर्मोयं अनेक विहार स्वामिनो हरिवलस्य (यह अनेक विहारों के स्वामी हरिवल का धर्मदान है)। नीचे छोटे चैत्य के पश्चिमी भाग से भगवान् बुद्ध की एक बहुत सुन्दर मिट्टी की मूर्ति प्राप्त हुई थी, जिसमें भगवान पल्थी मारे बैठे हैं।

ह्वेनसांग के समय में यह स्तूप २०० फुट ऊंचा था। इसके सामने एक पत्थर का स्तम्भ भी था जिसका आज पता नहीं है। लेकिन इसको वर्तमान रूप सन् १९२६ में एक वर्मी उपासक ऊ फो च्यू ने १८,००० रु० व्यय करके दिया है। अनन्तर सन् १९३४ ई० में उन्होंने ११,६०० रु० और देकर इसको सुवर्णान्वित भी किया। इस समय यह स्तूप केवल ७५ फुट ऊंचा है।

माथाकुंवर का मंदिर

परिनिर्वाण मंदिर से दक्षिण-पश्चिम दिशा में ४०० गज चलने पर माथाकुंवर का मन्दिर मिलता है, जिसे माथा बाबा अर्थात् मृत बाबा भी कहते हैं। यहीं पर सन् १८६१ ई० में जनरल कनिंघम को साढ़े दस फुट ऊंची भूमिस्पर्शमुद्रा में एक बुद्ध प्रतिमा मिली थी, जो प्रारम्भ में इसी मंदिर में स्थापित थी। यह मूर्ति सन् १९११ ई० में अपने पुराने सिंहासन पर स्थापित की गयी। इस मंदिर की खोदाई में काले रंग का एक शिलापट्ट भी मिला है, जिस पर २३ पंक्तियों का एक लेख उत्कीर्ण है। लेख संस्कृत भाषा में है और इससे प्रमाणित होता है कि उक्त मूर्ति तथा मन्दिर की रचना ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दी में किसी कलचुरी राजा के समय में हुई थी। इस मन्दिर की खोदाई में जो वस्तुएं प्राप्त हुईं, उनमें कुषाण कालीन तांबे का भी एक सिक्का विशेष उल्लेखनीय है। गुप्त कालीन तांबे की एक मुहर, जिस पर 'बैलकस्य' लिखा है, मिली है। इसी स्थान पर सन् १९२६–२७ ई० में ऊ फो च्यू ने एक नया मन्दिर भी बनवाया है।

अन्य प्राचीन स्थल

इस स्तूप के निकट ही पूर्व की ओर एक विशाल चौकोर स्तूप है। इसके निकट कुषाण काल के १२ तांबे के सिक्के मिले थे। इनमें चार वेमकडफीसिस के

ग्रौर ग्राठ कनिष्क के थे। इसी के साथ ५ ग्रन्य छोटे स्तूप हैं, जिनकी नींव मात्र ही ग्रब शेष है। इनको खोदने पर कुछ मूर्तियां प्राप्त हुई थीं जिनमें एक मूर्ति भगवान् बुद्ध की है, जो सवा फुट ऊंची है। यह मूर्ति काले पत्थर की बनी है ग्रौर इसमें चौकों पर बौद्ध मंत्र थे "धर्मा हेतु प्रभवा हेतु तेषाम् तथागताह्यवदत् तेषाञ्च यो निरोधो एवं वादी महाश्रमण" ग्रर्थात् जितने धर्म हैं उनका हेतु (मूलकारण) तथागत बतलाते हैं। उनका जो निरोध (रोक) है उसको भी बतलाते हैं। यही महाश्रमण ने कहा है, लिखा है। इन्हीं स्तूपों में एक लाल रंग की मिट्टी की बुद्ध मूर्ति भी मिली थी। इसमें भगवान् बुद्ध धर्मचक्र-प्रवर्तन मुद्रा में उत्फुल्ल कमल के ग्रासन पर बैठे हुए हैं। इस मूर्ति का सिर खंडित था किन्तु बाद में वहीं पर मिल गया ग्रौर ग्रब जोड़ दिया गया है।

इन स्तूपों के पूर्व के क्षेत्र में खोदाई करने पर कुछ ग्रौर भी पुरानी सामग्री मिली, जिसमें धातु का एक घण्टा, जो लोहे की छड़ में लगा हुग्रा था ग्रौर एक चतुर्भुजी गणेश की मूर्ति मुख्य हैं। मूर्ति काले पत्थर की बनी हुई थी ग्रौर ऊंचाई में १ फुट ८ इंच थी। यह पाल कला की द्योतिका है ग्रौर इसका निर्माण-काल ई० सन् १० शताब्दी है।

परिनिर्वाण मन्दिर ग्रौर स्तूप से पश्चिम की इमारतों में एक विशाल विहार के ग्रवशेष हैं, जो परिनिर्वाणविहार के हैं। इसकी खोदाई करने पर दो कुएं, एक ग्रभिलिखित ताम्रपत्र, बहुत सी नक्काशीदार ईंटें, मूर्तियां, ११ शिलालेख ग्रौर लगभग सवा चार सौ मिट्टी की पकाई हुई मोहरें मिली थीं। यह सब सामग्री ग्रब लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है।

इस विहार के दक्षिण में एक दूसरा महाविहार था, जो चार भागों में बंटा हुग्रा था। यह विहार परिनिर्वाण विहार से भी ग्रधिक प्राचीन है। इसकी खोदाई करने पर बहुत सी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक वस्तुएं प्राप्त हुई है। इनमें से मनुष्य की दो खोपड़ियां, नेपाली चित्र-पटल, ग्राटा पीसने की चक्की, वर्तन, करछुल, मूर्तियां, चन्द्रगुप्त द्वितीय का सोने का एक सिक्का ग्रौर मिट्टी की ग्रनेक मुहरें जिन पर लेख ग्रंकित हैं, मुख्य हैं।

अनुरुधवा

माथाकुंवर कोट के दक्षिण-पूर्व की दिशा में २,५०० फुट की दूरी पर ग्रनुरुधवा गांव के पास चारों ग्रोर प्राचीन राजधानी के भग्नावशेष फैले हुए हैं।

गांव के मध्य भाग में छोटे-छोटे स्तूपों के खण्डहर वर्तमान हैं। इनको खोदने पर ईंटों के फलक प्राप्त हुए थे जिन पर भगवान् बुद्ध के जीवन की घटनाएं अंकित हैं। पहले फलक पर सिद्धार्थ कुमार के जन्म का दृश्य अंकित है। इसमें महामाया देवी शाल-वृक्ष के नीचे खड़ी हैं। दूसरे फलक पर भगवान् को धर्मचक्र मुद्रा में उपदेश देते हुए अंकित किया है। तीसरे में मुचलिंद नाग के फण के नीचे भगवान् बैठे हुए हैं। चौथे फलक पर भगवान् वरद मुद्रा में दिखाये गये हैं।

मुकुट-बंधन अथवा अंगार चैत्य

माथाकुंवर कोट से लगभग १ मील की दूरी पर रामाभार तालाव के पश्चिमी तट पर एक विशाल स्तूप का खंडहर है। सन् १८६१ ई० में जब श्री कनिंघम ने इसका निरीक्षण किया था तब इसकी ऊंचाई ४६ फुट थी। इसी स्थान पर भगवान् बुद्ध का अन्तिम संस्कार किया गया था। यहीं पर मुकुट-बंधन नाम का एक विशाल विहार था। इत्सिंग के समय में इस विहार में सौ भिक्षु निवास करते थे। इस विहार के पूर्व में हिरण्यवती नदी बहती थी। कहा जाता है कि रामाभार चैत्य में ही मल्ल राजाओं का अभिषेक होता था। वास्तव में इसका प्राचीन नाम मुकुट-बंधन चैत्य था। इस स्थान की खोदाई मुख्य रूप से सन् १९१०–१२ ई० में की गयी थी और इसमें से एक अस्पष्ट शिला-लेख और बहुत सी बेलबूटों से अंकित ईंटें पायी गयीं थीं। आजकल इस स्थान पर एक विशाल वट वृक्ष है। इसके नीचे कुटी बना कर एक चीनी साधु रहता है जिसका चारों ओर बहुत यश है और जिसके दर्शन के लिए बहुत से लोग आते हैं।

उपरोक्त प्राचीन स्थानों के अतिरिक्त कुशीनगर में भिक्षु महावीर द्वारा निर्मित बौद्ध विहार, श्री बिडला द्वारा निर्मित आर्य विहार, भिक्षसीमागृह आदि नवीन स्थान भी दर्शनीय हैं।



राजगृह

बिहार प्रान्त के पटना जिले के दक्षिण-पूर्वी भाग में बिहार शरीफ से दक्षिण-पश्चिम में लगभग १३ मील की दूरी पर राजगृह का प्राचीन क्षेत्र है। इस स्थान को प्राचीन समय में मगध नरेश बिम्बिसार की राजधानी होने का अपूर्व गौरव प्राप्त था। साहित्य एवं जनसमूह में यह स्थान राजगृह, राजगह-कुशाग्रपुर, वृहद्रथपुर, गिरिव्रज, वसुमती, राजगीर आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध है। राजगृह की गणना बौद्ध अष्ट महा-स्थानों में तो है ही, साथ ही जैनियों, हिन्दुओं एवं मुसलमानों के लिए भी समान रूप से महत्वपूर्ण है। यहां भगवान बुद्ध तथा जैन तीर्थंकर महावीर स्वामी ने अनेक वर्षावास किये थे। इसके अतिरिक्त जैनियों के बीसवें तीर्थंकर मुनि सुव्रत का जन्म भी यहीं हुआ था

राजगृह बिहार-बख्तियारपुर लाइन पर एक रेलवे स्टेशन है, जहां से प्राचीन दर्शनीय स्थल लगभग दो मील की दूरी पर स्थित है। पटना एवं गया से मोटर द्वारा भी लोग आसानी से यहां पहुंच सकते हैं। यात्रियों के ठहरने के लिए यहां कई धर्मशालाएं एवं डाक बंगले हैं।

राजगृह की गणना अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के महत्वपूर्ण नगरों में थी। रामायण के अनुसार इस नगरी की स्थापना ब्रह्मा के पुत्र वसु ने की थी, अतः इसका नाम वसुमति पड़ा। वृहद्रथपुर नामकरण होने के कारण कुछ लोग इसे जरासन्ध के पूर्वज वृहद्रथ द्वारा भी स्थापित मानते हैं। पर्वतों से आवेष्टित होने के कारण यह गिरिव्रज नाम से विख्यात हुआ। कुशाग्रपुर नाम पड़ने का कारण ह्वेनसांग ने यहां अच्छे कुश का उत्पन्न होना बताया है। परन्तु इन सब नामों में राजगृह नाम ही अधिक प्रचलित एवं इतिहास-प्रसिद्ध है, क्योंकि इसी नाम से यह नगरी कई शताब्दियों तक मगध की राजधानी रही। रामायण एवं महाभारत में इस नगरी के जो वर्णन मिलते हैं, उनकी इतिहास से पुष्टि नहीं हो सकती है। परन्तु बिम्बिसार के समय (५४३--४९१ ई० पू०) से इसका सच्चा इतिहास मिलता है। ई० पू० छठीं शताब्दी में मगध, कोशल, वत्स एवं अवन्ती चार

शक्तिशाली राज उत्तरी भारत में थे। इनमें से मगध की राजधानी होने के कारण राजगृह एक प्रमुख उन्नतिशील नगर था। यह नगर चारों ओर पांच पहाड़ियों से घिरा होने के कारण प्राकृतिक दुर्ग के समान सुरक्षित था। महाभारत में इन पहाड़ियों के नाम वैभार या पान्डर, बराह या विपुल, वृषभ या वाराहक, ऋषिगिरि और चैत्यक या चैत्य दिये गये हैं। आजकल इन पहाड़ियों को वैभार-गिरि, विपुल गिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि और सोनागिरि के नाम से पुकारते हैं।

राजगृह का संबंध महात्मा बुद्ध के जीवन के अनेक लौकिक और अलौकिक चरित्रों के साथ जुड़ा हुआ था। इसलिए उसकी गणना बौद्ध तीर्थस्थानों में विशेष रूप से की जाती है। भगवान् बुद्ध को गृद्धकूट पर्वत विशेष रूप से प्रिय था। अतः उन्होंने स्वयं इस स्थान की प्रशंसा करते हुए कहा था––"राजगृह आनन्दप्रद है, गृद्धकूट आनन्दप्रद है, गोतम न्यग्रोध आनन्दप्रद है, चौर प्रपात आनन्दप्रद है, वैभार के पार्श्व में सप्तपर्णी (गुफा) आनन्दप्रद है, ऋषिगिरि के पार्श्व में काल-शिला आनन्दप्रद है, सीतावन में सर्प शौन्डीक प्राग्भार आनन्दप्रद है, तपोदा-राम आनन्दप्रद है, वेणुवन में कलन्दल झील आनन्दप्रद है, जीवक का आम्र-वन आनन्दप्रद है, मर्द्दकुक्षि का मृगदाव आनन्दप्रद है" इस उद्धरण में जितने नाम लिये गये हैं, वे सब राजगृह के मुख्य अंग थे, जहां भगवान् बुद्ध ने या तो निवास किया था या उपदेश दिया था। इसी नगर में बिम्बिसार और उनके पुत्र अजात-शत्रु ने बौद्ध धर्म ग्रहण किया और उस काल के सर्वाग्रणी वैद्य जीवक ने अपना प्रसिद्ध आम्रवन बौद्ध संघ को भेंट किया था। भगवान बुद्ध ने एक बार यहां एक चमत्कार भी दिखाया था जिसके कारण भी राजगृह प्रसिद्ध हुआ। कहा जाता है कि एक बार बुद्ध के चचेरे भाई देवदत्त ने शत्रुता से प्रेरित होकर 'नाला गिरि' नामक एक मनुष्य घातक हाथी को इनकी हत्या करने के लिये भेजा, किन्तु जब यह हाथी बुद्ध जी के सामने आया तो उनके स्पर्शमात्र से ही बिल्कुल शान्त होकर उनके पैरों के पास बैठ गया। इस अद्भुत चमत्कार के पश्चात् राजगिरि के विभिन्न स्थलों में भगवान् बुद्ध ने बहुत दिनों तक निवास किया और अपना उपदेश देते रहे। भगवान् बुद्ध के कुशीनारा में निर्वाण प्राप्त करने पर उनकी अस्थियों के आठ विभाजन किये गये थे, जिनमें से एक भाग 'अजातशत्रु' ने राजगृह में लाकर एक स्तूप के नीचे स्थापित करवाया था। भगवान बुद्ध के निर्वाण के कुछ मास बाद बौद्ध मत के प्रमुख आचार्यों ने शास्ता के उपदेशों को संकलित

करने के लिए राजगृह में ही प्रथम बौद्ध महासभा का आयोजन किया था। राजगिरि का उल्लेख करते हुए बुद्ध घोष ने लिखा है कि "उस समय नगर के अन्तरंग और वहिरंग नाम के दो भाग थे। नगर में जाने के लिए ३२ प्रवेश-द्वार एवं ६४ फाटक थे। पूरे नगर की जनसंख्या १८ कोटि थी।" फाहियान के वर्णन से ज्ञात होता है कि अजातशत्रु ने पहाड़ियों से घिरे हुए नगर के बाहर एक सुदृढ़ दुर्ग भी बनवाया था।

अजातशत्रु के बाद मगध के राजा उदायिन (लगभग ४५९–४४३ ई० पू०) ने अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र बदल दी। तब से राजगृह का राजनीतिक महत्व कम हो गया। फिर भी उसका धार्मिक महत्व क्षीण नहीं हुआ। ईसा से पूर्व तीसरी शताब्दी में सम्राट अशोक ने यहां एक विशाल स्तूप और हस्ति से सुशोभित स्तम्भ की रचना करवाई थी। किन्तु ईसा की पांचवी शताब्दी में फाहियान के अनुसार राजगृह सूना-सा हो चुका था। पहाड़ियों के बाहर करन्ड वेणुवन के विहार में केवल थोड़े से भिक्षु निवास करते थे। ईसा की सातवी शताब्दी में ह्वेनसांग को पूरा नगर भग्न रूप में मिला था। प्राचीन स्तूपों और विहारों की केवल आधार-भित्तियां मात्र ही रह गई थीं। आजकल राजगृह की विशेष प्रतिष्ठा उसके पहाड़ियों पर बने हुए जैन मन्दिरों के कारण है। यद्यपि ये मन्दिर बहुत प्राचीन नहीं हैं, फिर भी दूर-दूर से श्रद्धालु एवं धर्मपरायण यात्री इनके दर्शन के लिए आते हैं।

राजगृह के इतिहास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिए तथा उसके वैभव को समझने के लिए वहां के मुख्य स्थानों, स्मारकों आदि का परिचय प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है, अतः उनका संक्षिप्त विवरण नीचे प्रस्तुत किया जा रहा है:–

प्राचीन राजगृह का मुख्य क्षेत्र

जिस स्थान पर राजगिरि नाम का गांव आज बसा हुआ है वहां प्राचीनकाल में मजबूत चहारदीवारी से घिरे हुए एक नगर की स्थापना बिम्बिसार ने की थी। नगर की दीवार ३ मील के घेरे में थी, जो आज लुप्तप्राय हो गयी है। इस नगर के बाहर अजातशत्रु ने भी एक दुर्ग बनाया था, जिसकी दीवार आज भी सुरक्षित है। यह दीवार १५ फुट से लेकर १८ फुट तक मोटी है और कहीं-कहीं पर ११ फुट तक ऊंची है। दीवार

के बीच-बीच में अर्धगोलाकार चौकियां थी। जिस जगह दीवार टूटी है वहां संभवत: प्रवेश-द्वार थे। १९०५ ई० में जब इस क्षेत्र की खोदाई की गयी, तो यहां विभिन्न स्तरों पर अनेक काल के अवशेष प्राप्त हुए। ये अवशेष सामान्य गृहों, चैत्यों और नालियों के थे। एक स्थान पर अनाज रखने के लिए मिट्टी का बहुत बड़ा कुंड़ा भी प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त मुस्लिमकालीन ताम्र-मुद्राएं भी प्राप्त हुई थीं। नगर के पश्चिम में सरस्वती नदी के दूसरे तट पर एक टीला जैसा है, जो किसी विशाल स्तूप का अवशेष प्रतीत होता है। फाहियान के मतानुसार यह स्तूप अजातशत्रु ने बनवाया था, लेकिन ह्वेनसांग के कथनानुसार यह स्तूप अशोक का है। यह टीला ३१ फुट ऊंचा है। खोदाई करने पर यहां १२ फुट की गहराई पर मौर्य काल की ईंटें भी प्राप्त हुई थीं। इसी क्षेत्र से एक इंच व्यास वाले और दो इंच ऊंचे अनेक छोटे-छोटे स्तूप भी मिले थे जिनमें बौद्ध मंत्र से अंकित बहुत सी मिट्टी की टिकियां रखी हुई थीं।

इस क्षेत्र में आगे चलने पर वैभारा पहाड़ी के नीचे गरम पानी के कुण्ड मिलते हैं। इनमें सब से विशाल कुण्ड का नाम सातधारा है। इन कुण्डों के निकट अनेक आधुनिक मन्दिर और मस्जिदें बनी हैं। मन्दिरों से १५० गज की दूरी पर करण्ड ताल है, जो भगवान बुद्ध को विशेष रूप से प्रिय था। इसी ताल से कुछ दूर पर वेणुवन था, जहां कई स्तूप और विहार थे, किन्तु आज ये सब ढूहमात्र रह गये हैं। इस क्षेत्र की खोदाई करने पर अनेक टूटी-फूटी मूर्तियां और ईंटों के बने स्तूप प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक बुद्ध मूर्ति की चरण-चौकी है, जिस पर भगवान के पैर बने हैं और ११वीं शताब्दी की लिपि में लेख उत्कीर्ण हैं, विशेष महत्त्व की है। वेणुवन के निकट ही ह्वेनसांग ने अजातशत्रु द्वारा बनवाया गया एक स्तूप देखा था किन्तु आज इसका निश्चित पता कुछ भी नहीं है। सम्भवतः सड़क के बाईं ओर जो टीला है वही इसका अवशेष हो।

मचान अथवा जरासंध की बैठक

सातधारा के ऊपर, वैभार पहाड़ी के पूर्वी ढाल पर पत्थर की बनी हुई एक इमारत है, जिसको वहां के लोग 'मचान' या 'जरासंध की बैठक' के नाम से पुकारते हैं। बौद्ध ग्रंथों और चीनी यात्रियों के यात्रा वृत्तान्त के अनुसार इसको 'पिप्पल गुफा' कहते थे। यह इमारत एक

चबूतरे के रूप में है, जो २२ फुट से लेकर २८ फुट तक ऊंचा है। इसका आधार ८५ फुट लम्बा और ८१ फुट चौड़ा है। सब से ऊपर इसकी लम्बाई ८१ फुट ६ इंच और चौड़ाई ७८ फुट है। पूरा चबूतरा बिना तराशे हुए पत्थरों का बना हुआ है। इस चबूतरे के ऊपर मुसलमानों की पांच कब्रें भी बनी हुई हैं। कुछ पाली ग्रन्थों में इस बात का भी उल्लेख मिलता है कि पिप्पल गुफा में महाकश्यप निवास करते थे। कहते है कि एक बार जब महाकश्यप पिप्पल गुफा में बहुत रुग्ण हो कर मानसिक और शारीरिक यन्त्रणा से दुःखित थे, तो स्वयं भगवान् बुद्ध उनके पास गये और उनकी शुश्रूषा करके स्वस्थ किया। महात्मा बुद्ध के निर्वाण के ६ मास के बाद बौद्ध आचार्यों की जो प्रथम सभा हुई थी, उसके संयोजक और अध्यक्ष महाकश्यप ही थे।

जैन मन्दिर

पिप्पल गुफा से हो कर पहाड़ी के ऊपर चढ़ने से कुछ दूर पर जैनियों का विशाल आदिनाथ का मन्दिर मिलता है, इस मन्दिर के पूर्व में थोड़ी दूर पर एक छोटा-सा दूसरा मन्दिर है, जिसके पीछे से एक सकरा मार्ग नीचे की ओर गया है। इस मार्ग पर आगे चल कर एक अन्य जैन मन्दिर मिलता है। वैसे तो यह मन्दिर नया बना है, किन्तु इसके मूल में कोई प्राचीन मंदिर था। इस मन्दिर के प्रांगण में एक मण्डप बना हुआ है। आंगन के चारों ओर छोटी-छोटी कोठरियां हैं। मुख्य मंदिर और कोठरियों की दीवारों पर आले कटे हुए हैं, जिनमें पहले मूर्तियां रखी थीं। आजकल अधिकतर ये आले सूने पड़े हुए हैं। कुछ में ध्यानमग्न मुनियों की मूर्तियां रखी हुई हैं। मुख्य मन्दिर की पूर्वी दीवार के अन्तराल में पद्मासन में सिंहासन पर आसीन एक पुरुष मूर्ति है। सिंहासन के नीचे एक लेटी हुई नारी का चित्रण है। सिंहासन के दोनों ओर सिंह और बीच में चक्र अंकित है। बाईं ओर ऋषभदेव की मूर्ति है जो एक चौकी पर आसीन हैं। मन्दिर के प्रांगण के चारों ओर की कोठरियों में पार्श्वनाथ और महावीर की मूर्तियां हैं। एक कोठरी में जैनमत के अनुसार स्वर्ग का दृश्य भी चित्रित है। वैभार पहाड़ी जैन धर्म के अनुयायियों के लिए प्राचीन काल से ही एक पवित्र स्थान रहा है। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा विवरण में दिगम्बर मुनियों के इस स्थान पर आने-जाने का उल्लेख किया है।

शिव मन्दिर

जैन मंदिर से कुछ दूर दक्षिण में महादेव जी का एक छोटा-सा मन्दिर है, जिसका गर्भ-गृह ११ वर्ग फुट है। इसमें शिवलिंग और शिरोहीन नन्दी है।

उत्तरी दिशा का प्रवेश-द्वार

उष्ण जल वाले कुण्डों के बाहर तपोदा नदी के लोहे के पुल को पार कर के लगभग २०० गज की दूरी पर वैभारा और विपुल पहाड़ियों के बीच राजगृह नगर की उत्तर दिशा का प्रवेश-द्वार मिलता है। इस प्रवेश-द्वार के दक्षिण में लगभग १०० गज की दूरी पर प्राचीन दुर्ग के अवशेष मिलते हैं।

मणियार मठ

यह स्थान उत्तरी प्रवेश-द्वार से लगभग १ मील की दूरी पर सड़क के पश्चिम में एक कूप के पास स्थित है। पूरा स्थान पत्थर की दीवार से घिरा हुआ है और इसके अन्दर ईंटों की एक गोलाकार इमारत बनी हुई है। इसके नीचे खोदाई करने पर एक स्तूप के आकार का ढांचा भी मिला था, जो भीतर से पीला था। इसके बाहर चबूतरेनुमा बेदियां बनी थीं, जिन पर चूना-मिट्टी की मूर्तियां अंकित हैं। खोदाई करने पर इस स्थान से विचित्र भाण्डे, कई मुखों वाले घट, नागों की मूर्तियां एवं मिट्टी के बने नागकल मिले हैं। मुख्य मन्दिर के पश्चिम में ईंटों का बना हुआ एक छोटा-सा मन्दिर है, जो कई बार बनाया गया है। इस मन्दिर में भी एक शिलापट्ट पर नाग-नागियों की मूर्तियां बनी हैं। नीचे 'मणि नाग' लिखा हुआ है। एक दूसरी नागी की आकृति के नीचे 'भगिनी सुमागधी' लिखा हुआ है। लिपि और कला की दृष्टि से ये मूर्तियां कुषाणकाल अर्थात् ईसा की पहली अथवा दूसरी शताब्दी की ठहरती हैं। सम्भवतः ये मूर्तियां मथुरा से बनवा कर यहां लायी गयी थीं। इन नाग और नागियों की अनेक मूर्तियों के प्राप्त होने से अनुमान किया जा सकता है कि इस काल में यह स्थान नाग-पूजा का प्रमुख क्षेत्र था। महाभारत से हमें ज्ञात होता है कि राजगृह में मणि नाग निवास करता था। अतः यदि महाभारत का यह अंश क्षेपक नहीं है तो इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि उसी काल से ही नाग पूजा की परंपरा इस स्थान पर चली आ रही थी, जो कुषाणकाल तक प्रचलित रही।

सोना भंडार गुफाएं

इस स्थान से पश्चिम को जाने वाली सड़क से कुछ दूर चल कर दो गुफाएं मिलती हैं जिनको सोनाभंडार की गुफाएं कहते हैं। इनमें से एक गुफा के द्वार पर गरुड़ पर आसीन भगवान् विष्णु की मूर्ति पायी गयी थी, जो आजकल नालन्दा संग्रहालय में रखी हुई है। गुफा के अन्दर की दीवार पर जैन तीर्थंकरों की छोटी-छोटी ६ मूर्तियां हैं। ये गुफाएं ई० सं० की तीसरी या चौथी शताब्दी में किसी जैन सन्त ने बनवाई थीं। पश्चिम दिशा की गुफा में एक काला पत्थर मिला है, जिस पर जैन धर्म के प्रथम चार तीर्थंकर ऋषभदेव अजितनाथ, सम्भवनाथ तथा अभिनन्दन नाथ की नग्न आकृतियां अंकित हैं।

जरासंध की रणभूमि

सोनाभंडार की गुफाओं से पश्चिम में लगभग एक मील की दूरी पर 'अखाड़ा' या जरासन्ध की रणभूमि है। जनश्रुति के अनुसार इस स्थान पर गरिव्रज के राजा जरासंध के साथ भीम का मल्ल-युद्ध २८ दिनों तक हुआ था और जिसमें अन्त में जरासन्ध मारे गये थे।

बिम्बिसार का बन्दीगृह

मणियार मठ से दक्षिण की ओर सड़क पर लगभग ६ फ० चलने पर पत्थर की दीवारों से घिरा हुआ २०० फुट लम्बा और उतना ही चौड़ा एक वर्गाकार क्षेत्र मिलता है जो मगध-नरेश बिम्बिसार का बंदीगृह कहा जाता है। बंदीगृह की बाहरी दीवार ६ फुट मोटी है। वृद्धावस्था में बिम्बिसार को उनके पुत्र अजातशत्रु ने इसी में बन्दी किया था। यह भी कहा जाता है कि इस स्थान से बिम्बिसार, गृद्धकूट पर निवास करते हुए भगवान् बुद्ध के दर्शन करते थे।

गृद्धकूट मार्ग

बंदीगृह के निकट से गृद्धकूट पर्वत पर एक प्राचीन मार्ग जाता है, जिसके विषय में यह अनुमान किया गया है कि मगध नरेश बिम्बिसार ने इसकी रचना करवाई थी। ह्वेनसांग के कथनानुसार जब बिम्बिसार महात्मा बुद्ध के दर्शन के लिए गृद्धकूट जाने को हुए तो उन्होंने बहुत से लोगों को जमा किया, जिन्होंने पर्वत के धरातल को ठीक करते हुए सीढ़ीनुमा एक रास्ता बनाया

था। इस रास्ते पर चलने से मार्ग में दो स्तूपों के चिन्ह मिलते हैं। इन दोनों स्तूपों का उल्लेख भी ह्वेनसांग ने किया है। इनमें से एक स्तूप उस स्थान पर है जहां बिम्बिसार ने रथ छोड़ कर पैदल चलना आरम्भ किया और दूसरा स्तूप उस जगह पर है जहां से बिम्बिसार ने भीड़ को छोड़ कर अकेले गृहकूट की गुफा की ओर चढ़ना आरम्भ किया था। इन स्तूपों की खोदाई करने पर कोई महत्वपूर्ण वस्तु नहीं प्राप्त हुई।

गृद्धकूट गुफा

इस मार्ग के अन्त में गृद्धकूट की दो गुफाएं हैं। इन्हीं गुफाओं में भगवान् बुद्ध विशेष रूप से निवास करते थे। इस स्थान तक पहुंचने के पूर्व जीवक के आम्रवन और मद्दकुक्षि के प्राचीन क्षेत्र को पार करना पड़ता है। जिन दिनों भगवान् राजगृह में निवास करते थे उन्हीं दिनों यहां जीवक नामक विख्यात वैद्य भी रहते थे। एक बार अस्वस्थ होने पर स्वयं भगवान् बुद्ध ने उन्हें अपनी चिकित्सा के निमित्त बुलाया और उन्होंने विरेचन (जुलाब) द्वारा भगवान् को स्वस्थ किया था। जीवक भगवान् के परम भक्त थे। एक बार उन्होंने भगवान् को दुशाला तथा अन्य भिक्षुओं को चीवर दान दिया था। एक दूसरे समय उन्होंने संघ को ५०० कम्बल दिये थे। बाद में अपना प्रसिद्ध आम्रवन भी संघ को दान कर दिया था। आम्रवन के प्रसिद्ध महाविहार के भग्नावशेष आज प्राकृतिक वनस्पतियों से ढंके पड़े हैं। पाली ग्रन्थों में वर्णित मद्दकुक्षि का क्षेत्र भी गृद्धकूट के समीप ही था, जहां एक मृगदाव तथा विहार था। इसी स्थल पर देवदत्त ने शिला फेंक कर भगवान् को मारने का प्रयास किया था।

गृद्धकूट की दो गुफाओं में से एक गुफा के अन्दर पकाई हुई मिट्टी की अनेक मुहरें प्राप्त हुई थीं। इनमें आठ मानुषी बुद्धों का दो पंक्तियों में चित्रण किया गया है और नीचे महीन अक्षरों में बौद्ध मंत्र लिखा हुआ है। गुफाओं के बाहर पत्थर की बनी प्राचीन दीवारें हैं। कुछ दूर ऊपर और चढ़ने पर एक विस्तृत खुला चबूतरा-सा मिलता है, जिस पर अनेक मन्दिर ईंटों और पत्थरों के बने हुए हैं। गृद्धकूट का पूरा क्षेत्र एक प्रकार से बौद्ध धर्म के स्मारकों से भरा है। ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् बुद्ध के निर्माण के पश्चात् काफी समय तक इस स्थान पर नये विहारों की रचना एवं पुराने विहारों का जीर्णोद्धार होता रहा।

श्रावस्ती

बौद्ध धर्म के आठ महातीर्थों में श्रावस्ती भी एक है जो बौद्ध साहित्य में 'सावत्थी' के नाम से विख्यात है। यह नगरी बहुत दिनों तक शक्तिशाली कौशल देश की राजधानी थी। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार भगवान् बुद्ध ने यहां २४ बार वर्षा-वास कर के जनता को सद्धर्म का उपदेश दिया था। मज्झिम-निकाय के १५० सूत्रों में से ६५ तथा विनयपटक के ३५० शिक्षा-पदों में से २९४ यहीं दिये गये थे। श्रावस्ती का महत्व इसलिए और भी अधिक है कि यहीं राजा प्रसेनजित् के दरबार में अधरस्थित् हो कर भगवान् बुद्ध ने अपने अलौकिक चमत्कार का प्रदर्शन भी किया था। परन्तु समय के प्रभाव से श्रावस्ती का प्राचीन गौरव आज भग्नावशेषों के रूप में वनस्पतियों से आवृत्त हो अतीत की कहानी बनकर रह गया है।

श्रावस्ती का आधुनिक क्षेत्र सहेट-महेट के नाम से उत्तर प्रदेश में अचिरावती नदी के तट पर स्थित है। इनमें से सहेट गोंडा तथा महेट बहराइच जिले में स्थित है। जहां यात्री तीन विभिन्न मार्गों द्वारा पहुंच सकते हैं। पहला मार्ग उत्तर-पूर्वी रेलवे की लखनऊ-गोरखपुर लाइन पर स्थित गोंडा स्टेशन से है। दूसरा मार्ग उसी रेलवे की गोंडा-गोरखपुर लूपलाइन पर स्थित बलरामपुर स्टेशन से है और तीसरा मार्ग गोंडा-नानपारा लाइन पर स्थित बहराइच स्टेशन से हो कर है। इन तीनों ही स्टेशनों से यात्री तांगे, मोटर, बस अथवा इक्के आदि के द्वारा क्रमशः ३२, ९ एवं २६ मील की दूरी तय कर के श्रावस्ती पहुंच सकते हैं।

श्रावस्ती का उल्लेख पाणिनी की अष्टाध्यायी, रामायण, महाभारत, हरिवंश पुराण, विष्णु पुराण, वायु पुराण, भागवत् पुराण, ललित विस्तर आदि ग्रन्थों में मिलता है। हरिवंश पुराण के अनुसार सूर्यवंशी राजा युवनाश्व के पुत्र श्रावस्त ने इसको बसाया था। किन्तु रामायण में रामचन्द्र जी के पुत्र लव द्वारा श्रावस्ती अथवा शरावती के बसाये जाने की चर्चा की गई है। श्रावस्ती के सूर्यवंशी राजाओं की यह परम्परा भगवान् बुद्ध के समकालीन राजा प्रसेनजित् के

समय तक चलती रही, यद्यपि इस वंश के पश्चात् भी यह नगरी बहुत दिनों तक कोशल देश की राजधानी रही। श्रावस्ती का क्रम-बद्ध इतिहास भगवान् बुद्ध के समय से मिलता है। उस समय यहां का राजा प्रसेनजित् था। प्रसेनजित् यद्यपि शाक्यों पर शासन करता था तथापि हीन वंशज होने के कारण किसी शाक्य वंशी राजकुमारी से विवाह कर अपनी वंश-परम्परा अधिक उन्नत करना चाहता था। परन्तु शाक्य उसे अपनी कन्या देने में अपमान समझते थे; अतः उन्होंने एक दासी कन्या को शाक्य कन्या कह कर भेज दिया था। इसी कन्या से प्रसेनजित् के उत्तराधिकारी कुमार विरूदक (विरुद्धक) का जन्म हुआ। विरुद्धक को जब इस रहस्य का पता चला तो उसने शाक्यों को समूल नष्ट करने के निमित्त उन पर आक्रमण किया और अपने रनिवास के लिए चुनी गई ५०० शाक्य कन्याओं का भी वध कर डाला। भगवान् बुद्ध ने विरुद्धक की इस नृशंसता को देख भविष्यवाणी की कि वह सात दिन के भीतर ही अग्नि में भस्म हो जायगा। ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-वृतान्त में उस तालाब का उल्लेख किया है जिसमें विरुद्धक अग्नि की लपटों से बचने के निमित्त कूदा था।

श्रावस्ती के सूर्यवंशी शासकों के पश्चात् इस नगरी का इतिहास हमें फिर से मौर्य काल से मिलता है। दिव्यावदान के अनुसार सम्राट् अशोक ने श्रावस्ती की भी यात्रा की थी और सारिपुत्र, मोदगलायन, महाकश्यप और आनन्द की स्मृति में यहां बनाये गये चारों स्तूपों की पूजा की थी। यहां से प्राप्त एक ताम्रपत्र द्वारा तत्कालीन शासन की ओर से श्रावस्ती के महामात्रों को एक आदेश भी दिया गया था। यद्यपि आज्ञा के प्रचारक का नाम अज्ञात है तथापि दान-पत्र की लिपि एवं उसमें प्रयुक्त 'महामात्र' शब्द से इसका मौर्यकालीन होना स्पष्ट है। ई० पू० पहली और दूसरी शताब्दी की बनी भरहुत एवं बोधगया की वेदिकाओं पर भी श्रावस्ती तथा जेतवन विषयक दृश्य उत्कीर्ण हैं, जिससे उस काल में इस स्थान की महत्ता ज्ञात होती है। किन्तु श्रावस्ती की विशेष उन्नति कुषाण-काल में हुई। भिक्षुबल द्वारा स्थापित बुद्धमूर्ति के अभिलेख से यह पता लगता है कि कुषाण-काल में यह प्रदेश कनिष्क महान् के अधिकार में था। उस समय जेतवन-विहार का पूरा क्षेत्र सर्वास्तिवादी भिक्षुओं के प्रभाव में था।

यद्यपि श्रावस्ती का महत्व किसी न किसी प्रकार १२वीं शताब्दी तक बना था तथापि गुप्तकाल से इसका गौरव नष्ट होने लगा था। इसका स्पष्ट आभास हमें प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान के यात्रा-वृतान्त से मिलता है। उसने

जब इस क्षेत्र की यात्रा की थी तो यह नगर एक प्रकार से निर्जन हो चुका था और केवल २०० परिवार मात्र की बस्ती यहां रह गयी थी। प्राचीन विहार, मन्दिर, स्तम्भ आदि सब नष्ट होने लगे थे और उनके स्थान पर नये विहारों एवं मन्दिरों के निर्माण का प्रयास किया जा रहा था। फिर भी उसने अनेक स्मारकों का सजीव एवं विशद वर्णन दिया है जो पतनोन्मुख काल में भी श्रावस्ती के गौरव का परिचायक है। किन्तु लगभग दो सौ वर्ष बाद ही ह्वेनसांग के समय में यह नगर प्रायः जनशून्य और नष्ट हो गया था। उसने लिखा है कि "नगर की केवल चहारदीवारी भर शेष रह गई थी और अधिकांश इमारतों पर वनस्पतियां उग चुकी थीं। प्रसेनजित् के महल की केवल नींव ही शेष बची थी। कुछ मन्दिर अवश्य अब भी बच रहे थे जिनमें थोड़े बहुत साधु निवास करते थे।" निश्चय ही श्रावस्ती की यह दशा हूणों के आक्रमण के कारण हुई होगी। हर्ष के मधुबन दान-पत्र से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती उसके राज्य का प्रदेश (भुक्ति) था। हर्ष के बाद भी कुछ दिनों तक श्रावस्ती कन्नौज के राजाओं के शासन में रही। इस बात की पुष्टि राजा गोविन्द चन्द्र के दान-पत्र के लेख से भी होती है, जिससे न केवल श्रावस्ती के राजनैतिक इतिहास पर ही प्रकाश पड़ता है वरन् आधुनिक सहेट-महेट का प्राचीन श्रावस्ती होना भी सिद्ध होता है। इस प्रकार यद्यपि श्रावस्ती कुषाण-काल के वैभव को फिर न पा सकी, तथापि १२वीं शताब्दी तक यह किसी न किसी रूप में बौद्ध धर्म का क्षेत्र बनी रही। इसके पश्चात् यवनों के आक्रमण से हिन्दू राज्यों एवं सांस्कृतिक स्थानों का तीव्रता से विनाश होना आरम्भ हुआ जिसके परिणामस्वरूप अन्य महत्वपूर्ण स्थलों के साथ-साथ श्रावस्ती भी अन्धकार के गहवर में विलीन हो गयी।

आधुनिक काल में श्रावस्ती के प्राचीन वैभव को प्रकाश में लाने का सर्वप्रथम प्रयास भारतीय पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष जनरल कनिघम ने किया था। उन्होंने सन् १८६२ ई० में श्रावस्ती के खंडहरों की खोदाई की। लगभग एक वर्ष के कार्य में उन्होंने जेतवन का थोड़ा भाग साफ कराया उसमें उनको एक ७ फुट ४ इंच ऊंची एक बुद्ध-प्रतिमा प्राप्त हुई जिस पर अंकित लेख से इसका श्रावस्ती विहार में स्थापित होना ज्ञात हुआ था। यह वही मूर्ति थी जिसको भिक्षु बल ने स्थापित करवाया था। इस मूर्ति के लेख के आधार पर ही इतिहासज्ञों ने सहेट के क्षेत्र को जेतवन और महेट के क्षेत्र को श्रावस्ती माना है। सन् १८७६ ई० में कनिघम ने इन स्थानों की खोदाई पुनः करवाई

और लगभग १६ इमारतों की नीव प्रकाश में लाये। इस बार उनको यहां से सिक्के और मृण मूर्तियां भी प्राप्त हुई थीं। उनके मतानुसार जिस स्थान पर बोधिसत्व की विशाल मूर्ति प्राप्त हुई थी वहां कोसम्ब-कुटी नामक विहार था। उसी के उत्तर में गंधकुटी अथवा मुख्य मंदिर था। जिस समय श्री कनिघम सहेट में भग्नावशेषों की खोज कर रहे थे लगभग उसी समय में डा० डब्लू होये महेट में भग्नावशेषों की खोदाई कर रहे थे। उन्होंने महेट के पश्चिम में स्थित जैनमंदिर सोमनाथ के खण्डहरों में कुछ मूर्तियां प्राप्त कीं। पश्चात् इन्होंने पुनः खुदाई का कार्य किया और सन् १८८५ ई० में सहेट-महेट के क्षेत्र में कुछ और स्मारक प्रकाश में लाये। डा० होये द्वारा सबसे महत्वपूर्ण खोज संवत् ११७६ (सन् ११९६ ई०) में लिखा गया एक शिला-लेख था। सन् १९०८ ई०में डा०वोगेल ने श्री दयाराम साहिनी के साथ लगभग तीन मास तक इस क्षेत्र के भग्नावशेषों की खोदाई करायी और बहुत-सी महत्वपूर्ण वस्तुओं को प्रकाश में लाये। उन्होंने पक्की कुटी, कच्ची कुटी, एक स्तूप, जैनधर्म सम्बन्धी सोमनाथ के मंदिर आदि का पता लगाया। कच्ची कुटी में विशेष रूप से मिट्टी की मूर्तियां, खिलौने आदि मिले जिनका कलात्मक और ऐतिहासिक महत्व है। सोमनाथ मंदिर से अनेक जैन-मूर्तियां भी प्राप्त हुई। महेट के क्षेत्र में भी अनेक विहारों, स्तूपों और मंदिरों की रूपरेखा स्पष्ट की गयी और बुद्ध तथा बोधिसत्व मूर्तियां, सिक्के, मृण-मूर्तियां और मुहरें निकाली गयीं। इन वस्तुओं में सबसे महत्वपूर्ण एक अभिलिखित ताम्र-पत्र था, जो कन्नौज के राजा गोविद-चन्द्र का दान-पत्र है। इसी लेख के आधार पर विद्वानों ने सहेट को जेतवन का क्षेत्र और महेट को श्रावस्ती का क्षेत्र प्रमाणित माना है। सन् १९१०–११ ई० में विख्यात पुरातत्ववेत्ता सर जोन मारशल की अध्यक्षता में श्री दयाराम साहनी ने पुनः इस क्षेत्र की खोदाई की और बहुत-सी वस्तुएं पायीं। इनमें बुद्ध मूर्ति की एक अभिलिखित चरण-चौकी जिस पर जेतवन का उल्लेख है, विशेष महत्वपूर्ण है।

श्रावस्ती तथा जेतवन में जो मूर्तियां प्राप्त हुई हैं उनमें से अधिकांश बौद्ध धर्म सम्बन्धी है। जैन और ब्राह्मण धर्म से संबंधित मूर्तियां कम हैं। बौद्ध धर्म से संबंधित सबसे महत्वपूर्ण चार मूर्तियां हैं जिनकी स्थापना कुषाण-काल में की गयी थी। ये मूर्तियां चित्तीदार लाल पत्थर की बनी हुई है और मथुरा कला की द्योतिकाएं हैं। वास्तव में इतिहास के इस युग में मथुरा शिल्प-कला का प्रमुख केन्द्र था, जहां से छोटी-बड़ी मूर्तियां बन कर सारनाथ, कौशाम्बी, श्रावस्ती, कुशीनगर, सांची, राजगृह, तक्षशिला आदि स्थानों तक जाती थी। इन मूर्तियों में कला की दृष्टि से सब से सुन्दर भगवान् बुद्ध की एक

छोटी मूर्ति है जिसमें वे अभयमुद्रा में सिंहासन पर बैठे हुए हैं। मूर्ति की बनावट आश्चर्य-जनक रूप से उन मूर्तियों से मिलती है जो आज मथुरा संग्रहालय में रखी हुई हैं। यह मूर्ति उत्तर कुषाणकाल की है और किसी चतुर कलाकार के कौशल को प्रदर्शित करती है। लेकिन अभी तक श्रावस्ती और जेतवन के अवशेषों में जितनी भी वस्तुएं प्राप्त की गयी हैं उनमें गुप्तकाल की उन्नत कला का प्रतिनिधित्व करने वाली कोई पाषाण मूर्ति नहीं मिली है, जिससे उस काल में इसकी उपेक्षा स्पष्ट है। चित्तीदार लाल पत्थर की बनी हुई कुबेर की मूर्ति में गुप्तकाल की समुन्नत कला की परम्परा का आभास मिलता तो है किन्तु साथ ही मध्य कालीन कला की विशेषताओं की छाया भी स्पष्ट दिखायी पड़ती है। इसी समय की अर्धपर्यंक मुद्रा में अवलोकितेश्वर की भी एक मूर्ति है जिस पर सारनाथ और मगध की उत्तर गुप्तकाल की शैली की पूर्ण छाप है। इन मूर्तियों के अतिरिक्त श्रावस्ती से प्राप्त शेष मूर्तियां निश्चित रूप से मध्यकालीन अर्थात् नवीं, दसवीं शताब्दी की हैं। कच्ची कुटी से जो जैन-धर्म की मूर्तियां उपलब्ध हुई हैं, उनकी शैली उपर्युक्त मूर्तियों से भिन्न है और उन पर मध्य भारत अथवा राजस्थान की शैली का प्रभाव स्पष्ट है।

जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, जेतवन में बौद्ध विहार आदि का श्रीगणेश सब से पहले अनाथपिंडक अथवा सुदत्त नाम के श्रेष्ठी ने किया था। यह विहार श्रावस्ती का सर्वश्रेष्ठ विहार था। उसके पश्चात् पूर्वाराम की रचना विशाखा द्वारा जेतवन विहार से उत्तर-पूर्व में कुछ दूरी पर की गई थी। जेतवन और श्रावस्ती इमारतों का धार्मिक महत्व एवं वैभव बौद्ध ग्रंथों में स्थान-स्थान पर वर्णित है। किन्तु समय परिवर्तन के कारण आज यहां इन इमारतों के भग्नावशेषों को छोड़ कुछ नहीं दिखायी पड़ता। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण खंडहरों का वर्णन नीचे दिया गया है :—

जेतवन विहार

श्रावस्ती पहुंचने पर यात्री सबसे पहिले जेतवन विहार के दर्शन के लिए लालायित रहते हैं। परन्तु उसके चिन्ह विशेष न पाकर निराश हो जाते हैं। श्रावस्ती का धनाढ्य व्यापारी अनाथपिंडक एक बार अपने बहनोई के यहां राजगृह गया था। उस समय राजगृह के उक्त सेठ ने भगवान् बुद्ध को संघ सहित अपने यहां निमंत्रित किया था। अनाथपिंडक भगवान् बुद्ध से वहीं अत्यन्त प्रभावित हुआ और उनका अनन्य भक्त बन गया। इतना ही नहीं उसने उसी समय संघ सहित महात्मा बुद्ध को श्रावस्ती

आने का निमंत्रण भी दिया। श्रावस्ती लौटने पर अनाथपिंडक ने भगवान् बुद्ध के ठहरने के लिए स्थान की खोज आरम्भ की और नगर के ठीक बाहर जेतकुमार के प्रसिद्ध उद्यान जेतवन को इस कार्य के लिए उपयुक्त समझा और जेतकुमार से उद्यान बेचने का प्रस्ताव किया। राजकुमार ने उत्तर दिया कि 'यदि उस क्षेत्र पर कोर से कोर मिला कर स्वर्ण मुद्राएं बिछा दी जायं तो ही वह बिक सकेगा।' अनाथपिंडक ने कहा, 'तब तो उद्यान मैंने ले लिया। वह बिका या नहीं इसका निर्णय कानून के मंत्री देंगे।' कानून के अधिकारियों ने कहा कि उद्यान बिक गया क्योंकि उसका दाम बताया गया था। तब अनाथपिंडक ने कोर से कोर मिला कर भूमि पर स्वर्ण मुद्राएं बिछा दी। एक बार में लाया गया सोना एक द्वार के कोठे के बराबर थोड़ी-सी जगह के लिए पर्याप्त नहीं हुआ, अतः गृहपति अनाथपिंडक ने और सोना लाने की आज्ञा दी। तब राजकुमार ने कहा, "बस इस जगह पर स्वर्ण मुद्राएं मत बिछाओ। यह जगह मुझे दे दो। यह मेरा दान होगा।" अनाथपिंडक ने वह जगह जेतकुमार को दे दी, जहां उसने एक कोठा बनवाया। अनाथपिंडक के जेतवन-क्रय करने की कथा इतनी प्रचलित थी कि भरहुत के तक्षकों ने इस दृश्य को वहां के वेष्टनि पर भी अंकित किया है। कथा के अनुसार अनाथपिंडक ने १८ करोड़ स्वर्ण-मुद्राओं को बिछाने के बाद १८ करोड़ स्वर्ण मुद्राओं को विभिन्न इमारतों को बनवाने में खर्च किया और विहारों, परिवेणों, कोट्टकों, उपस्थान शालाओं, अग्निशालाओं, कप्पीय कुटियों (गोदाम), वच्छ कुटियों, चंकमों, चंकमनशालाओं, उद्यानों, तालाबों, पुष्करिणी, उद-पानशालाओं, स्नानगृहों तथा मंडपों की रचनाएं करवायी। पश्चात् जब भगवान् बुद्ध भ्रमण करते हुए वहां पधारे तो गृहपति अनाथपिंडक ने जेतवन और उसकी समस्त इमारतों को महात्मा बुद्ध तथा उनके संघ को दान कर दिया।

जातक निदान कथा के अनुसार सेठ अनाथपिंडक ने जेतवन के क्षेत्र के मध्य भाग में बुद्ध के रहने के लिए गंधकुटी की रचना करवायी थी और उसके चारों ओर ८० प्रमुख बौद्ध शिष्यों के रहने के लिए निवास-स्थान बनाये गये थे। ये निवास विविध रूपों के थे। साथ ही साथ उसने उन स्थानों को भी बनवाया था जहां पर बुद्ध जी विश्राम करते थे, घूमा करते थे एवं रात में शयन करते थे। बुद्ध घोष की रचना सुमंगल-विलासिनी से यह पता लगता है कि जेतवन में करेरी कुटी, कोसम्बकुटी, गंधकुटी और सललगृह नाम के चार प्रमुख स्थान थे। इनमें से सललगृह की रचना राजा प्रसेनजित् ने की थी और बाकी

तीनों कुटी का निर्माण अनाथपिंडक ने करवाया था। इन इमारतों को बनवाने में लगभग एक लाख स्वर्ण मुद्राएं खर्च हुई थीं।

पूर्वाराम

जेतवन विहार की रचना के पश्चात् इसके कुछ दूर पूर्व में पूर्वाराम नामक विहार था, जिसका निर्माण विशाखा नाम की एक उपासिका ने कराया था। वह श्रावस्ती के पूर्व वर्धन नामक धनी व्यापारी की स्त्री तथा मिगार की पुत्रवधू थी। उसके पास मेलपलन्दना नामक एक अमूल्य आभूषण था। एक बार संयोग से भगवान् बुद्ध का उपदेश सुनते समय उसका हार वहीं गिर गया जो उसे घर लौटने पर ज्ञात हुआ। तुरन्त ही उस हार की खोज हुई और वह भाग्य से उक्त विहार के उपदेश-स्थल पर ही वह मिल गया। किन्तु धर्म-स्थान से प्राप्त होने के कारण विशाखा उसे धारण करने को तैयार न हुई और उसने संकल्प किया कि उसे विक्रय कर उसके मूल्य से वह एक विहार का निर्माण करायेगी। अमूल्य होने के कारण श्रावस्ती में उस हार को क्रय करने की किसी में शक्ति न थी अतः उसने स्वयं ९ करोड़ की धनराशि में उसे क्रय कर लिया और उसी धन से उक्त विहार का निर्माण कराया। भगवान् बुद्ध ने श्रावस्ती के अपने निवास-काल में कुछ समय इस विहार में भी बिताया था।

आनन्द बोधि

जेतवन विहार के ठीक सामने इस विशाल वृक्ष के दर्शन होते हैं। कहा जाता है कि यह वृक्ष भगवान बुद्ध के काल का है यद्यपि इस विषय का प्रमाण नहीं है। आनन्द-बोधि वृक्ष के विषय में 'पजावलिय' नामक सिंहली ग्रंथ में इस प्रकार कथा मिलती है—जेतवन महाविहार की अनेक सुविधाओं की अपेक्षा भी भगवान् बुद्ध यहां केवल वर्षा ऋतु में ही ठहरते थे। शेष समय वे भ्रमण करके उपदेश देते फिरते थे। इससे भक्त-जनों को उनके सम्पर्क में अधिक रहने का सौभाग्य न प्राप्त हो पाता था। अतः सबने भगवान् बुद्ध से प्रार्थना की कि वे अपना कोई स्थायी चिन्ह उनके लिए दें जिसकी उपासना उनकी अनुपस्थिति में भी की जा सके। भगवान् ने उनकी प्रार्थना स्वीकार कर ली और अपने प्रधान शिष्य आनन्द को बोधिवृक्ष की शाखा श्रावस्ती में लगाने की आज्ञा दी। अनुमति प्राप्त होने पर दैवी शक्ति से सम्पन्न महा-मोग्गलान वायु मार्ग से जाकर उक्त वृक्ष की शाखा लाये। सबकी इच्छा थी कि राजा प्रसेनजित् ही उस शाखा का आरोपण करें। परन्तु उन्होंने यह कह कर अस्वीकार कर

दिया कि राजा की शक्ति की स्थिरता निश्चित नहीं, अतः किसी ऐसे व्यक्ति के द्वारा उसका रोपण होना चाहिए जो चिरकाल तक उसकी रक्षा कर सके। तब यह कार्य अनाथपिडक द्वारा सम्पन्न हुआ। भगवान् बुद्ध ने इसके नीचे पूरी एक रात्रि ध्यानावस्था में व्यतीत् कर इस वृक्ष की महत्ता एवं पवित्रता को और भी बढ़ा दिया था। तब से लेकर आज तक भक्तजन उस वृक्ष को भगवान बुद्ध का रूप मान कर पूजते हैं।

राजकाराम

इसका विवरण संयुक्त निकाय की अट्ठ कथा में मिलता है। राजा प्रसेनजित् द्वारा बनाये जाने के कारण इसका नाम राजकाराम था। एक बार भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के राजकाराम में निवास कर रहे थे। उस समय १,००० भिक्षुणियों का संघ भगवान् के पास आया था। जातकट्ठ कथा में इसे पिट्ठि विहार भी कहा गया है जिसका अर्थ जेतवन के पीछे वाला विहार है।

गंधकुटी

जेतवन के पूर्व में भगवान बुद्ध के निवास के लिए एक कोठरी का निर्माण किया गया था। इसे गंध कुटी कहते हैं। श्रद्धालु जन अब इस पर पुष्प आदि सुगंधित द्रव्य चढ़ाते हैं। इस कुटी का द्वार पूर्व की ओर था तथा इसके आगे एक चबूतरा बना था जिस पर भोजनोपरान्त खड़े होकर महात्मा बुद्ध भिक्षुसंघ को उपदेश दिया करते थे।

गंधकुटी परिवेण

गंधकुटी के समीप ही गंधकुटी परिवेण था जिसमें एक स्थान पर बुद्धासन रहता था और यहीं बैठ कर भिक्षुसंघ भगवान् बुद्ध की वंदना करता था।

द्वार कोट्ठक

इस कोट्ठक का निर्माण गंधकुटी के सामने किया गया था। जेतवन को क्रय करने के निमित्त अनाथपिडक द्वारा मंगाई गयी प्रथम बार की स्वर्ण मुद्रा से उक्त उद्यान का थोड़ा-सा भाग बिना ढके रह गया था जिसे जेतकुमार ने सेठ से मांग लिया था और वहां उक्त कोट्ठक का निर्माण कराया था।

जेतवन पोक्खरणी

उपर्युक्त कोट्ठक के पास ही इस पुष्करणी का निर्माण किया गया था। जातकट्ठ कथा के अनुसार इसकी कथा इस प्रकार है—

एक बार कोशल देश में वर्षा न होने के कारण अकाल-सा पड़ा । सर-सिरताएं सभी सूख गयीं। पशु-पक्षी तक व्याकुल हो गये। भगवान् तथागत से उनकी दशा न देखी गयी और उन्होंने पानी बरसाने का संकल्प किया । अतः भोजन के बाद विहार की ओर जाते समय वे पुष्करणी की सीढ़ियों पर खड़े हो गये और अपने प्रमुख शिष्य से स्नान के लिए वस्त्र मांगा । वस्त्र आ जाने पर उसका एक छोर धारण कर तथा दूसरा सिर पर रखकर वे खड़े हो गये । इसी समय पूर्व दिशा से बादल उमड़ आये और सम्पूर्ण देश में पर्याप्त वर्षा हुई। उक्त जल में स्नान कर भगवान् ने लाल वस्त्र धारण किया ।

इसी पुष्करणी के समीप ही भगवान् बुद्ध का परम शत्रु देवदत्त जीवित ही भूमि में धंस गया था । फाहियान तथा ह्वेनसांग दोनों के ही कथनानुसार देवदत्त जेतवन में भगवान् बुद्ध को विष देने के निमित्त आया था परन्तु मार्ग में ही उसकी उक्त दुर्दशा हुई।

उपस्थान-शाला

खुद्दक-निकाय के अनुसार संध्या समय इसी स्थल पर भगवान् बुद्ध एकत्रित भिक्षुओं को उपदेश देते थे ।

स्नान कोट्ठक

इसका उल्लेख अंगुत्तर निकाय के अट्ठकथा में किया गया है। तीसरे पहर उपदेश आदि देने के पश्चात् जब महात्मा बुद्ध स्नान करना चाहते थे तो अपने आसन से उठ कर इसी स्थान पर स्नान करते थे। गंध कुटी के पास वाला कूप भी इसी के निकट था ।

जंताघर

धम्मपद के भाष्य से यह ज्ञात होता है कि जंताघर स्नान करने का स्थान था, जो संघाराम के निकट बनाया गया था । इसमें पानी गरम करने के लिए आग भी जलायी जाती थी, इसलिए इसको अग्निशाला भी कहते थे।

आसन-शाला

इसमें पानी भरने वाले लोग रहते थे ।

जंताघर-शाला

इस स्थान पर प्रव्रज्या दी जाती थी ।

सुन्दरी परिब्राजिका

जेतवन के सम्बन्ध में एक सुन्दरी की हत्या की कथा भी मिलती है। इस कथा को महात्मा बुद्ध के शत्रुओं ने उनको बदनाम करने के लिए गढ़ा था। कहा जाता है कि बुद्ध जी के शत्रु रोज सुन्दरी को महात्मा बुद्ध के पास भेजते थे। एक दिवस उन लोगों ने उसकी हत्या कर डाली और महात्मा बुद्ध को लांछित करना चाहा। महाराजा प्रसेनजित् को जब इस षड्यंत्र का पता लगा तो उन्होंने लोगों को मनुष्य-हत्या का दंड दिया।

परिखा

उपर्युक्त कथा से यह ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र के चारों ओर एक परिखा (खाई) भी थी, क्योंकि बुद्ध के शत्रुओं ने इसी परिखा में सुन्दरी के शव को छिपा रखा था।

तीर्थंकाराम

इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि श्रावस्ती का क्षेत्र केवल बौद्धों के लिए ही नही वरन् जैनों के लिए भी पवित्र था। जैन धर्म के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभनाथ का जन्म इसी स्थान पर हुआ था। बौद्ध साहित्य में यहां के दिगम्बर जैनों का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है।

अंधबन

श्रावस्ती से लगभग २ मील की दूरी पर एक और प्रसिद्ध स्थान था जिसे अंधवन कहते थे। फाहियान के कथनानुसार इस स्थान पर ५०० अंधे भिक्षु निवास करते थे। एक दिन भगवान् बुद्ध ने उनके कल्याण के लिए धर्म उपदेश दिया। उसे सुनते ही उनको दृष्टि प्राप्त हो गयी।

उपर्युक्त प्राचीन स्थानों के अतिरिक्त श्रावस्ती में एक बर्मी मंदिर तथा धर्मशाला तथा एक चीनी मंदिर भी है, जो हाल की बौद्ध धर्म के प्रति बढ़ती हुई अभिरुचि का परिणाम है।



संकिस्सा

बौद्ध अष्ट महास्थानों में संकिस्सा महायान शाखा के बौद्धों का प्रधान तीर्थ है। कहा जाता है कि इसी स्थल पर अपनी स्वर्गीय माता महामाया को उपदेश देकर भगवान् बुद्ध पृथ्वी पर उतरे थे। सरभमिग जातक में यह कथा अत्यन्त रोचक ढंग से एवं विस्तार-पूर्वक दी हुई है। भगवान् बुद्ध को जन्म देने के सातवें दिन ही देवी महामाया का स्वर्गवास हो गया था, अतः वे अपनी ज्ञानी पुत्र के उपदेश से वंचित रह गयी थीं। त्रयस्त्रिंश स्वर्ग में निवास करते हुए उन्हें अपने पुत्र से उपदेश सुनने की एक बार प्रबल इच्छा हुई, अतः भगवान् स्वयं एक दिन त्रयस्त्रिंश स्वर्ग गये और तीन मास तक अपनी जननी को उपदेश दिया। सरभमिग जातक के अनुसार संकिस्सा श्रावस्ती से ६० मील की दूरी पर स्थित था। शास्ता को स्वर्ग से उतरते देखने के लिए महामोग्गलान जो इस समय श्रावस्ती में निवास कर रहे थे अपने साथियों सहित इस दूरी को पल भर में पारकर संकिस्सा पहुंचे थे। इसके अतिरिक्त अपनी ही भविष्य-वाणी के अनुसार भगवान् अगले जीवन काल में सरीवद्द के पुत्र रूप में मैत्रेय बुद्ध होकर इसी स्थान में जन्म ग्रहण करेंगे। इन दोनों कारणों से संकिस्सा को बौद्ध धर्मावलम्बी अत्यन्त आदर की दृष्टि से देखते और पूज्य तीर्थ की भांति पूजते हैं।

बौद्ध ग्रंथों में वर्णित 'संकास्स' आज का आधुनिक संकिस्सा अथवा बसन्तपुर नामक ग्राम है, जो उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जिले की सदर तहसील में स्थित है। यह ग्राम ४१ फुट ऊंचे, १५० फुट लम्बे और १,००० फुट चौड़े टीले पर बसा हुआ है। शिकोहाबाद और फर्रुखाबाद लाइन पर स्थित पखना तथा मोटा स्टेशनों से यह स्थान लगभग ५ मील की दूरी पर है। गांव एवं स्टेशन के बीच से कालिन्दी अथवा कालिन्द्री नाम की एक छोटी नदी बहती है। संकिस्सा तक पहुंचने के लिए अब तक कोई भी अच्छा मार्ग नहीं था, केवल कच्ची सड़कों एवं पगडंडियों के द्वारा ही यात्री यहां तक पहुंच सकते थे, किन्तु अब प्रान्तीय सरकार की नयी योजना के अनुसार पक्की सड़क बन जाने के कारण यात्रा सुगम हो गयी है। यात्रियों के ठहरने के लिए एक विश्राम-गृह की भी व्यवस्था की गयी है।

वसंतपुर का ग्राम किसी समय एक सुन्दर नगर था, जिसका वैभव इतिहास की गति के साथ धीरे-धीरे लुप्त हो गया। सबसे पहले इस स्थान का पता जनरल कनिंघम

ने १८४२ ई० में लगाया। उस समय उन्होंने यह सिद्ध किया था कि यह वही स्थान है जिसक चर्चा ह्वेनसांग ने अपने यात्रा-वृत्तांत में की–पी–था अथवा कपीला के नाम से किया था। प्राचीन साहित्य में इस नगर का नाम सांकाश्या या संकास्स मिलता है। रामायण में इस नगरी को इक्षुमती नदी के किनारे बसा हुआ बताया गया है, जो राजा जनक के भाई कुशध्वज की राजधानी थी। उस समय यह नगरी अत्यन्त वैभवशाली थी एवं चारों ओर एक सुदृढ़ परकोटे से घिरी थी। जनरल कनिंघम को खोदाई में साढ़े तीन मील के घेरे वाली जो दीवार मिली थी वही संभवतः रामायण में वर्णित परकोटा है और वर्तमान कालिन्दी ही प्राचीन इक्षुमती नदी है। इस स्थान का उल्लेख पाणिनी ने भी अपने 'अष्टाध्यायी' ग्रंथ में किया है।

जातक कथाओं एवं अन्य बौद्ध ग्रंथों में इस नगर का नाम भगवान् बुद्ध के यहां दिव्य कर्म सम्पन्न करने के कारण तथा मैत्रेय बुद्ध की भांति जन्म लेने के कारण पवित्र स्थान के रूप में लिखा गया है। प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार जिन सीढ़ियों से महात्मा बुद्ध ब्रह्मा और इन्द्र के साथ स्वर्ग से उतरे थे वे भूमि में समा गयी थीं, केवल ७ सीढ़ियां बच रही थीं और वे भी कालांतर में लुप्त हो गयी। कहा जाता है कि सम्राट् अशोक ने भूमि खोद कर उन सीढ़ियों को निकलवाने का प्रयास किया था। किन्तु अपने इस प्रयास में वे असफल रहे। परवर्ती काल में बौद्ध धर्म को श्रद्धा की दृष्टि से देखने वाले अनेक राजाओं ने इन लुप्त सोपानों के स्थान पर नये सोपानों को बनवाने की चेष्टा की। ये सोपान पत्थर और ईटों से बनाये गये थे, जिनमें बहुमूल्यअलंकरणों का भी प्रयोग किया गया था। इन सोपानों की ऊंचाई लगभग ७० फुट थी। सोपानों के ऊपर एक विहार भी बनवाया गया था, जिसमें भगवान् बुद्ध की मूर्ति ब्रह्मा और इन्द्र की मूर्तियों के साथ स्थापित की गयी थी। मूर्तियां ऐसी मुद्राओं में थी जिनसे ऐसा ज्ञात होता था कि ये लोग सोपानों से भूमि पर उतर रहे हैं। फाहियान और ह्वेनसांग के कथनानुसार इन तीन सोपानों के ऊपर सम्राट् अशोक ने एक मंदिर की रचना करवाई थी, जिसके मध्य भाग में भगवान् बुद्ध की ६० फुट ऊची एक विशाल प्रतिमा स्थापित थी। सोपान के निकट ही उन्होंने एक ७० फुट ऊंचे शिला-स्तम्भ की रचना भी करवायी थी। इस स्तम्भ के ऊपर सिंह की आकृति थी। इस सिंह के विषय में भी एक चमत्कारपूर्ण कथा कही जाती है, जिसका उल्लेख फाहियान ने किया है। एक बार श्रमणों और ब्राह्मणों में इस विषय पर विवाद छिड़ा कि वास्तव में यह स्थान बौद्धों के रहने योग्य है अथवा ब्राह्मणों के। श्रमण यह सिद्ध कर रहे थे कि यह स्थान श्रमणों के ही योग्य है। तब ब्राह्मणों ने यह

कहा कि अगर ऐसा है तो किसी चमत्कार से इसको प्रमाणित करो। उनके इतना कहते ही स्तम्भ से प्रस्तर-सिंह ने गर्जन किया। इस प्रकार यह विवाद शांत हुआ।

इस कथा से यह आभास भी मिलता है कि 'संकिस्सा' के विषय में यह विवाद प्राचीन काल में ही उठ खड़ा था कि यह स्थान ब्राह्मणों का है अथवा श्रमणों का। इस स्थान की खोदाई में भी जो वस्तुएं प्राप्त हुई है, उनमें अधिकांश बौद्ध धर्म से संबंधित नहीं हैं। इसलिए यह मानना सहज है कि बौद्ध धर्म के अनुयायी इस स्थान पर अपना आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रख सके और ब्राह्मणों ने भी इस पर अपना अधिकार बहुत प्राचीन काल में ही जमा लिया था। इसकी सूचना चीनी यात्रियों के विवरण से भी प्राप्त होती है, जिसमें उन्होंने लिखा है कि विहार के आस-पास अनेक सहस्र ब्राह्मण यहां पर निवास करते थे। संकिस्सा के गांव में आज भी इस प्रकार की किंवदन्ती प्रचलित है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व यह स्थान जनशून्य कर दिया गया था और एक हजार वर्ष पहले किसी कायस्थ ने इसको ब्राह्मणों को दान में दे दिया था। इसीलिए अन्य बौद्ध तीर्थों के समान इस स्थान का भी कोई श्रृंखलाबद्ध इतिहास प्राप्त नहीं होता। समय-समय पर शासक लोग अपनी इच्छानुसार यहां विहार, स्तूप, तड़ाग, मंदिर आदि बनवाते रहे। किन्तु मध्य युग में आकर यह भी बंद हो गया, जिसके फलस्वरूप यह पवित्र स्थान विस्मृत होने लगा और बौद्ध धर्म के ह्रास के साथ इसकी महत्ता लुप्त हो गयी। बौद्ध धर्म विशेष रूप से भिक्षुओं से परिचालित होता था। उसका नेतृत्व गृहस्थ लोग नहीं कर सकते थे, इसलिए जब इस स्थान की धार्मिक इमारतें नष्ट हो गयीं और भिक्षु लोग न रहे तो किसी ने उनका जीर्णोद्धार कराने की चेष्टा नहीं की। इमारतें भग्न होकर पहले खंडहर हुईं, फिर समय बीतने पर अपने ही मलबे में दबकर टीले के रूप में हो गयीं। फिर भी ऐतिहासिक लेखों, मुहरों, मूर्तियों, सिक्कों आदि के द्वारा इस स्थान के प्राचीन स्मारकों के विषय में जितना ज्ञान हुआ है वह इसकी महत्ता को सिद्ध करने के लिए यथेष्ट है।

यह पहले कहा जा चुका है कि वर्तमान संकिस्सा का पता सबसे पहले जनरल कनिंघम ने १८४२ ई० में लगाया था, परन्तु उस समय वे इस स्थान की खोदाई न करा सके। इस स्थान की विधिवत् खोदाई का कार्य उन्होंने १८६२ ई० में आरम्भ किया। इस कार्य में उन्होंने अशोक द्वारा निर्मित स्तूपों एवं विहारों का तथा मुख्य नगर के अति प्राचीन परकोटे एवं प्रवेश-द्वार का पता लगाया। उन्हें इस क्षेत्र में शुंग काल से लेकर नवीं शताब्दी तक के सिक्के भी प्राप्त हुए, जिससे यहां के क्रमिक इतिहास कापता चलता है। सिक्कों के अतिरिक्त उनको पत्थर की एक मुहर, दो चित्रित शिलापट्ट, एक मृणमूर्ति,

एक नक्काशीदार काला पत्थर और कुछ अलंकार प्राप्त हुए थे। पत्थर की मुहर पर त्रिरत्न और स्वस्तिक चिन्ह बने हुए हैं और उस पर "उतरसेनस" अर्थात् उत्तरसेन की (यह मुहर) लिखा हुआ है। शिलापट्टों पर भगवान् बुद्ध के जीवन से संबंधित प्रमुख दृश्य उत्कीर्ण हैं। इनमें से एक में भगवान् को स्वर्ग से संकिस्सा में उतरते हुए दिखाया गया है। यह पत्थर बहुत कुछ घिस गया है, जिसके कारण लगभग आधा दृश्य मिट गया है तथापि जो शेष है उसमें ऊपर की ओर एक ऊंची इमारत है जिस पर पहुंचने के लिए नीचे से एक लम्बी सीढ़ी लगी हुई है। सीढ़ी के ठीक ऊपर एक गुम्बद है, जिससे होकर मुख्य इमारत में प्रवेश किया जा सकता है। यह इमारत तीन खंडों में अंकित की गयी थी और इसका ऊपरी भाग अब खंडित हो गया है। इमारत के मध्य भाग में उपदेश देने की मुद्रा में भगवान् बुद्ध बैठे हैं। उनके दायीं ओर एक आकृति है, जो भक्ति-भाव से आसीन है। दृश्य के बाम भाग में एक वृक्ष है, जिस पर एक बड़ा-सा मोर बैठा हुआ है। सीढ़ियों के मूल भाग में एक नारी की आकृति है, जो अपने बायें हाथ को ऊपर की ओर उठाये है और दायें हाथ में एक भिक्षा-पात्र लिये हुए हैं। यह उत्पलवर्णा नाम की भिक्षुणी है जो भगवान् का सत्कार करने आयी थी। मूर्ति के खंडित होने पर भी यह निश्चित रूप से भगवान् बुद्ध के स्वर्ग से उतरने का ही दृश्य है, जो संकिस्सा में ही हुआ था।

अन्य वस्तुओं में एक गोल पत्थर है, पर जिस पर कुछ आकृतियां और अलंकरण उत्कीर्ण किये गये हैं। यह पत्थर सुन्दर और बहुमूल्य है। इसके चारों ओर बाहरी हाशिये पर घनी नक्काशी की गयी है। अन्दर के वृत्त को १२ भागों में विभाजित किया गया है, जिसमें से तीन के अन्दर खड़े हुए पुरुषों की आकृतियां, अन्य तीन में वृक्ष तथा शेष ६ में बौद्ध धर्म के प्रतीक अंकित है। ठीक इसी प्रकार का एक शिलाखंड श्री कनिंघम को तक्षशिला में भी प्राप्त हुआ था। अभी तक इन फलकों पर बने चित्रों का वास्तविक अर्थ ज्ञात नहीं हो सका है। इस स्थान से प्राप्त दम्पत्ति की मृणमूर्तिया असाधारण रूप से सुन्दर और कलापूर्ण है। उसके कटि प्रदेश में मोतियों की मेखला है, जो उसके सौंदर्य को द्विगुणित करती है। उसके दायें हाथ में मनाल कमल है एवं बांया हाथ कटि-प्रदेश पर स्थित है। ये मूर्तियां ई० पू० पहिली सदी की है। इसके अतिरिक्त काले पत्थर के एक टुकड़े पर भगवान् बुद्ध के निर्वाण का दृश्य अंकित किया गया है। वे दायीं करवट लेटे हैं और उसका दायां हाथ सिर के नीचे है। उनके चारों ओर भिक्षु खड़े हैं। शिलापट्ट के दूसरी ओर एक बड़े हाथी का अगला पैर बना हुआ है। अपने मूल रूप में हाथी की यह आकृति ६ इंच ऊंची रही होगी। हाथी के इस पैर

के सामने एक पुरुष है जो धोती पहने हुए है और जिसके हाथ में ढाल तथा खड्ग है। उसके सिर पर कोई वस्त्र नहीं है। श्री कनिंघम के अनुसार यह दृश्य भगवान् बुद्ध के अस्थ्यवशेषों को हाथी के मस्तक पर रख कर ले चलने वाले जलूस का एक अंश मात्र है। इन वस्तुओं के अतिरिक्त श्री कनिंघम को सुनारों के काम में आने वाले कुछ पत्थर के बने हुए अत्यन्त प्राचीन सांचे भी यहां से प्राप्त हुए हैं। इन सांचों में से एक पर कुछ लिखावट प्रतीत होती है जो अस्पष्ट है। सांचों की शैली से यह ज्ञात होता है कि विदेशों से कुछ स्वर्णकार आकर इस स्थान पर बसे थे।

श्री कनिंघम के बाद संकिस्सा के अवशेषों की खोदाई श्री ग्राउज ने आरम्भ की, जिसका कोई विवरण प्राप्त नहीं है। इसके पश्चात् सन् १९१४ ई० में श्री हीरानन्द शास्त्री ने इस स्थान पर खोज का काम आरम्भ किया। उनके प्रयास से अनेक इमारतें, सिक्के, मिट्टी की मुहरें आदि प्राप्त हुईं, जिनसे संकिस्सा के इतिहास पर विशेष प्रकाश पड़ा। प्राप्त सिक्कों में से कुछ सिक्के ईसा से पूर्व दूसरी शताब्दी के हैं, जिन पर ब्राह्मी लिपि में लेख लिखा हुआ है। कुछ सिक्के कुशाण काल के हैं, जिन पर शिव तथा नन्दी की आकृतियां अंकित हैं। इस खोदाई में श्री हीरानन्द शास्त्री को लगभग ११५ मिट्टी की मुहरें प्राप्त हुईं, जिनमें से एक मुहर बौद्ध धर्म से संबंधित है। यह मुहर ४० फुट नीचे खोदाई करने पर मिली थी, जहां पर राख और कोयलों के ढेर में वह पड़ी हुई थी। इससे यह प्रमाणित होता है कि किसी समय में संकिस्सा के विहारों को जलाया गया था। मुहरें विविध काल की हैं और बौद्ध, शैव तथा वैष्णव धर्म से संबंध रखती हैं। इनमें कुछ पर भद्राक्ष, कुछ पर रम्याक्ष और कुछ पर श्वेत भद्र लेख अंकित हैं। भद्राक्ष और रम्याक्ष से अंकित मुहरों पर शैव प्रतीक यथा शिव, नन्दी, त्रिशूल अंकित हैं एवं श्वेतभद्र की मुहरों पर गरुड़ और सर्प की आकृतियां हैं। इस प्रमाण के आधार पर यह स्पष्ट है कि संकिस्सा का पुण्य तीर्थ केवल बौद्धों के लिए ही आदरणीय नहीं था, वरंच शैवों और वैष्णवों का भी एक मुख्य स्थान था।

डा० शास्त्री ने जिस स्थान पर मुख्य रूप से खोदाई कराई वह बिसारी देवी के मंदिर और दूह के बीच का भाग था, जहां किसी विहार के कई कमरों की रूपरेखा स्पष्ट की जा सकी थी। यहां से प्राप्त ईंटों से यह भी ज्ञात हुआ कि यह विहार मौर्य काल का है। इस इमारत के उत्तर कोने पर और बीच में दो सीढ़ियां भी मिली हैं। यदि दूसरे कोने पर भी सीढ़ियां मिल जायं तो यह स्पष्ट हो जायगा कि यह वही इमारत है जिसका वर्णन चीनी यात्री ह्वेनसांग ने किया था। बिसारी देवी के आधुनिक मंदिर

के ढूह के नीचे जो इमारत दबी पड़ी है वह भी विहार-सी लगती है। इसकी खोदाई करने पर कोने से इमारतों के कुछ भाग मिले हैं जो एक के ऊपर बने हैं। इन इमारतों में धातुओं की अनेक वस्तुएं और मनके मिले हैं। इसके अतिरिक्त किसी प्राचीन गोल इमारत के खंडहर के ऊपर एक वर्गाकार इमारत के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं जिसका पूरा वर्ग १२० फुट लम्बा-चौड़ा है। सभवतः यह इमारत कुषाण-काल में बनी थी जैसा कि इसमें प्रयुक्त ईंटों से ज्ञात होता है। संकिस्सा गांव के दक्षिण-पश्चिम कोने पर खोदाई करने से एक और मौर्यकालीन इमारत के अवशेष प्राप्त हुए थे। इस इमारत के कमरों में से कुछ बर्तन और बहुत-सी दावातें प्राप्त हुई थीं, जिनसे ऐसा अनुमान होता है कि इस स्थान पर कोई पाठशाला तथा छात्रावास था।

उपरोक्त इमारतों के आधार पर प्राचीन संकिस्सा के वैभव की कल्पना सहज ही की जा सकती है, जब वह अनेक स्तूपों, विहारों और मंदिरों से सुशोभित था। पाठशालाएं और विद्वानों के निवास-स्थान के अतिरिक्त दूर-दूर से आने वाले यात्रियों के ठहरने के लिए भी समुचित प्रबन्ध यहां था। मौर्य काल से लेकर गुप्त काल तक यह स्थान निश्चित रूप से उन्नत अवस्था में था। पश्चात् हूणों के आक्रमण के फलस्वरूप ज्यों-ज्यों बौद्ध धर्म का ह्रास होता गया त्यों-त्यों संकिस्सा भी अवनति के मार्ग पर अग्रसर हुआ। यहां तक कि मुस्लिम काल में आक्रमणकारियों की बर्बरता से जो कुछ बचा था वह भी सदा के लिए नष्ट हो गया।

संकिस्सा के पूर्व की ओर लगभग ६ मील की दूरी पर एक और टीला मिला है जिसकी खोदाई करने पर एक विशाल विहार के अवशेष, मुद्राएं, मूर्तियां और अन्य सामग्री प्राप्त हुई है। प्राचीन काल में यह विशाल विहार संकिस्सा महातीर्थ का अवश्य ही एक महत्वपूर्ण अंग रहा होगा। इसके उत्तर-पूर्व कोने पर भगवान् बुद्ध की एक विशाल मूर्ति पाई गई थी। साथ ही मिट्टी की बनी अनेक मुहरें भी मिली थीं जिनमें महात्मा बुद्ध द्वारा प्रचारित धर्म का मूलमंत्र "ये धर्मा हेतु..." लिखा हुआ है। यहीं से एक शिलापट्ट भी प्राप्त हुआ है जिस पर बोधिसत्व की दो प्रतिमाएं उत्कीर्ण हैं। यह विहार पखना-विहार के नाम से प्रसिद्ध था। इस स्थान के उत्तर में लगभग चार फर्लांग की दूरी पर एक बहुत बड़ा ताल है जिसे लोग महीताल कहते हैं। इसके पश्चिम तट पर कुछ मंदिरों के भग्नावशेष मिले हैं जिनमें से ब्राह्मण धर्म संबंधी अनेक महत्वपूर्ण मूर्तियां प्राप्त हुई हैं। ह्वेनसांग ने संकिस्सा के पास जिस विशाल विहार को देखा था यह संभवतः वही विहार है।

संकिस्सा और पखना-विहारों की खोदाई अभी पूरी नहीं हुई है। अधिकांश भाग दूहों और खेतों के नीचे अज्ञात ही पड़ा है फिर भी जितनी सामग्री अभी तक प्राप्त हुई है उससे संकिस्सा के वैभव का बहुत कुछ ज्ञान हो जाता है। खेद है कि ऐसे स्थान पर उपरोक्त भग्नावशेषों को छोड़ कर कुछ ही दर्शनीय स्थल और हैं जो यहां के गौरवपूर्ण समय पर प्रकाश डालते हैं, अतः इनका विवरण नीचे दिया गया है :—

विसारी देवी का मंदिर

संकिस्सा के क्षेत्र में प्रवेश करते ही टीले पर दक्षिण में ईंटों का एक ऊंचा दूह है जिसपर विसारी देवी का आधुनिक मंदिर बना है। इस देवी की पूजा ग्रामवासी शक्ति के रूप में करते हैं।

अशोक स्तम्भ का शीर्ष भाग

उपर्युक्त मंदिर वाले टीले के उत्तर में ४०० फुट की दूरी पर एक प्राचीन स्तम्भ का शीर्ष भाग पाया गया था। इस पर हाथी की मूर्ति बनी है जिसकी सूंड़ और पूंछ अब टूट गयी है। भूरे रंग के पत्थर की बनी हुई यह मूर्ति अपने चमकदार पालिश तथा उत्कृष्ट रचना के कारण अवश्य ही किसी अशोक स्तम्भ को सुसज्जित करती होगी, जो यहां स्थापित किया गया था। फाहियान एवं ह्वेनसांग दोनों ने ही संकिस्सा में अशोक स्तम्भ होने का उल्लेख किया है, किन्तु उसके शीर्ष भाग पर हाथी के स्थान पर सिंह लिखा है जो संभवतः भ्रमवश होगा। यह शीर्ष भाग अब एक लोहे के बाड़े में सुरक्षित है।

स्वर्ग से उतरने का स्थान, प्रमुख विहार एवं स्तूप

विसारी देवी के मंदिर के दक्षिण में लगभग २०० फुट की दूरी पर एक टीला है जो संभवतः किसी स्तूप का खंडहर मालूम पड़ता है। इसी प्रकार मंदिर के पूर्व लगभग ६०० फुट की दूरी पर भी "नीवी का कोट" नाम का एक विशाल टीला है, जो परिमाण में ६००×५०० फुट का है और जो वास्तव में कभी एक विशाल विहार रहा होगा। इस विशाल दूह के दक्षिण-पूर्व और उत्तर के कोनों में भी स्तूपों के कई खंडहर हैं और इसी प्रकार का एक दूह थोड़ी दूर चलकर उत्तर दिशा में भी मिलता है। इन सब दूहों को मिलाकर पूरा क्षेत्र लगभग ३००० फुट लम्बा और २००० फुट चौड़ा है और २ मील के घेरे में फैला हुआ है। संभवतः यह समस्त क्षेत्र मुख्य नगर का मध्य भाग रहा होगा। नगर के चारों ओर मिट्टी की १८,६०० फुट लम्बी दीवार थी जिसका अधिकांश

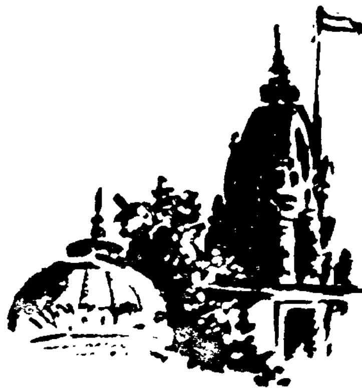
भाग आज भी देखा जा सकता है। कहीं-कहीं पर नगर में प्रवेश करने के द्वारों के चिन्ह भी मिलते हैं। इस क्षेत्र में अगणित छोटे-बड़े स्तूप हैं, जिनमें सात स्तूप महत्व के हैं। पहिला जहां भगवान बुद्ध त्रयस्त्रिंश स्वर्ग से भूमि पर उतरे थे, दूसरा जहां पूर्व समय में चार बोधिसत्वों ने बैठ कर योगसाधना की थी, तीसरा जहां भगवान बुद्ध ने स्नान किया था, चौथा एवं पांचवां जहां इन्द्र और ब्रह्मा भगवान बुद्ध के साथ स्वर्ग से उतरे थे, छठां जहां भिक्षुणी उत्पलवर्णा ने सर्वप्रथम स्वर्ग से उतरते हुए भगवान का सत्कार किया था एवं सातवां जहां भगवान ने अपने केश एवं नख कटवाये थे।

नाग का तालाब

यह तालाब विशाल स्तूप के दक्षिण-पश्चिम में स्थित है, जिसमें फाहियान के अनुसार एक श्वेत फण वाला नाग रहता था। यह नाग अपनी अलौकिक शक्ति के कारण भूमि को उर्वरता प्रदान करता था तथा संकिस्सा के निवासियों की रक्षा करता था। इस तालाब के भग्नावशेष कान्देय ताल के नाम से पुकारे जाते हैं और यहां प्रति वर्ष वैशाख मास भर मेला लगता है।

महादेव का मंदिर

विसारी देवी के मंदिर के उत्तर-पूर्व में आधे मील की दूरी पर एक टूह है, जिस पर महादेव जी का नया मंदिर बना हुआ है। मंदिर की इमारत में कुछ प्राचीन स्तम्भों का प्रयोग किया गया है जो मथुरा के लाल रेतीले पत्थर के बने हुए हैं। यहां खोदाई करने पर मध्यकालीन पौराणिक धर्म की वस्तुएं भी प्राप्त हुई थीं।



कौशाम्बी

कौशाम्बी की गणना प्राचीन भारत के वैभवशाली नगरों में को जाती थी। महात्मा बुद्ध के समय वत्सराज उदयन की राजधानी के रूप में इसने अद्वितीय गौरव प्राप्त किया। उदयन की गौरवपूर्ण गाथा से संस्कृत साहित्य भरा पड़ा है। कौशाम्बी के महान् श्रेष्ठियों के निमंत्रण और आग्रह पर भगवान् बुद्ध इस नगरी में पधारे थे, जहां उनके वर्षावास के निमित्त कई विशाल विहारों का निर्माण कराया गया था। बौद्ध साहित्य में वर्णित प्रसिद्ध घोषिताराम इसी नगर में स्थापित था, जिसके भग्नावशेष कौशाम्बी की अभी हाल की खोदाई में प्राप्त हुए हैं। प्रयाग-विश्वविद्यालय द्वारा संचालित इस खोदाई के कारण इतिहासवेत्ताओं एवं विद्वानों का ध्यान इस ओर प्रचुर मात्रा में आकर्षित हो रहा है।

कौशाम्बी वर्तमान कोसम, प्रयाग से ३३ मील की दूरी पर यमुना के बायें तट पर स्थित है। परन्तु इस मार्ग से पहुंचना अत्यन्त असुविधाजनक है। वैसे सराय-अकील तक तो बस से किसी प्रकार जाया भी जा सकता है किन्तु उसके आगे ७ मील का रास्ता नितान्त कच्चा एवं खेतों से है। बीच में एक नाला भी पड़ता है जो वर्षा ऋतु में बहुत दुरूह हो जाता है। दूसरा मार्ग ग्रैन्ड ट्रंक रोड से होकर है। यह मार्ग सुगम है किन्तु इससे लगभग ६३ मील की यात्रा करनी पड़ती है। ग्रैन्ड ट्रंक रोड पर २० मील चलने के पश्चात् उत्तरी रेलवे के भरवारी स्टेशन से बायीं ओर होकर राजापुर की सड़क पर २० मील और आगे जाना पड़ता है। यहां नहर की सड़क मिलती है जिससे होकर २१ मील की दूरी पर बेहनपुरवा का पुल मिलता है। यहां नहर की पटरी छोड़कर खेतों से होकर दो मील चलने पर हम कौशाम्बी पहुंच सकते हैं। इस नहर पर मोटर द्वारा यात्रा करने के लिए एक्जीक्यूटिव इंजीनियर, लोअर गंगा कैनाल, फतेहपुर डिवीजन, कानपुर से आज्ञा प्राप्त करनी पड़ती है जो सरलता से मिल जाती है। आजकल कौशाम्बी में खोदाई होने के कारण यात्रियों के बराबर आने-जाने से सवारी-सुविधा से प्राप्त हो जाती है।

कौशाम्बी का अस्तित्व अत्यन्त प्राचीन काल से ज्ञात है। इसके अनेक साहित्यिक प्रमाण मिलते हैं। शतपथ और गोपथ ब्राह्मणों में इसका उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से आया है। इन दोनों ग्रन्थों से पता चलता है कि उद्दालक आरूणि का एक शिष्य कौशाम्बेय अर्थात् कौशाम्बी का रहने वाला भी कहलाता था। उसके पश्चात् इस स्थान का उल्लेख हमें महाभारत, रामायण तथा हरिवंश पुराण में भी प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार कौशाम्बी की स्थापना चेदिराज के पुत्र उपरिचर वसु ने की थी, परन्तु रामायण में इस नगरी को कुश के पुत्र कुशम्व द्वारा स्थापित बताया गया है। दीर्घ निकाय में भगवान बुद्ध के प्रमुख शिष्य आनन्द ने कौशाम्बी की गणना तत्कालीन सम्पन्न, विख्यात एवं वैभवपूर्ण नगरों में की है। दीर्घनिकाय पर भाष्य लिखते हुए बुद्धघोष ने तत्कालीन प्रसिद्ध नगरों यथा चम्पा, राजगृह, श्रावस्ती, साकेत एवं वाराणसी के वर्णन के साथ-साथ कौशाम्बी के कुछ प्रसिद्ध श्रेष्ठियों का भी उल्लेख किया है।

प्राचीन ग्रंथों में विख्यात् होने पर भी कौशाम्बी का ऐतिहासिक और राजनीतिक महत्व राजा उदयन के समय से आरम्भ हुआ था। उदयन के पूर्व जिन राजाओं ने कौशाम्बी पर शासन किया उनका उल्लेख पुराणों में किया गया है। अर्जुन के पौत्र राजा परीक्षित से पांचवीं पीढ़ी में राजा विचक्षु ने अपनी राजधानी हस्तिनापुर से हटा कर कौशाम्बी को बनाया था। विचक्षु और उदयन के बीच १६ राजाओं ने कौशाम्बी पर शासन किया। इस प्रकार से उदयन हस्तिनापुर के कुरुवंश की शाखा के शासक थे। राजा उदयन संस्कृत साहित्य में एक प्रसिद्ध नायक के रूप में भी चित्रित किये गये हैं। प्रकृति से ही वे वीर तथा विलासी थे। युद्ध, हाथी, वीणा और सुन्दरी उनके प्रिय विषय थे। इसलिए संस्कृत भाषा के विख्यात नाटककार भास ने उदयन को अपने दो नाटकों—स्वप्नवासवदत्ता तथा प्रतिज्ञा-यौगंधरायण में नायक के रूप में उपस्थित किया। उदयन की कथा कथासरित्सागर, रत्नावली, प्रियदर्शिका, स्कंदपुराण (ब्रह्म कांड), जैनियों के धर्म ग्रंथ विविध तीर्थकल्प, ललितविस्तर, तिब्बत में पाये गये बौद्ध धर्म संबंधी साहित्य तथा ह्वेनसांग द्वारा लिखित अपने भ्रमण-वृतान्त में मिलती है। साहित्य और धर्म-ग्रंथों के अनुसार उदयन एक परम प्रतापी शासक थे, जिनके ऐश्वर्य को देखकर तत्कालीन राजा उनसे ईर्ष्या करते थे। अवन्ती के राजा चण्ड (चन्द्र) प्रद्योत ने एक बार छल से उदयन को बन्दी बना लिया था। लेकिन बाद में उदयन उन्हीं की पुत्री वासवदत्ता की सहायता से उसके साथ भाग निकले और उसको अपनी पटरानी बनाया। कथास-रित्सागर में उदयन के दिग्विजय का भी विवरण मिलता है। हर्ष

विरचित प्रियदर्शिका से यह ज्ञात होता है कि उदयन ने एक बार कलिंग पर भी विजय प्राप्त की थी।

परन्तु बौद्धग्रंथों में उदयन का चरित्र कलुषित रूप से चित्रित किया गया है। इसका प्रमुख कारण यही था कि वह बौद्ध न होकर हिन्दू धर्म का पोषक एवं अनुयायी था। कहा जाता है कि प्रथम बार जब महात्मा बुद्ध अपने धर्म प्रचार के निमित्त कपिलवस्तु, वैशाली एवं राजगृह होते हुए कौशाम्बी पधारे तब उदयन अपनी सेनाओं के साथ कंकावती नगरी पर आक्रमण करने के लिए प्रस्थान कर रहा था। अतः शांति के इस दूत को देखकर वे अत्यन्त क्रोधित हुए और भगवान् बुद्ध पर एक बाण भी छोड़ा। परन्तु भगवान् बुद्ध के चमत्कार से उस बाण से यह वाणी निकली, "क्रोध और क्षोभ से दुख उत्पन्न होता है। इस लोक में जो त्याग न करता हुआ युद्ध करता है उसको मृत्यु के पश्चात् नरक की यंत्रणाओं में पड़ना पड़ता है। अतः दुख एवं युद्धों को दूर रक्खो।" इस चमत्कार का महाराज उदयन पर बड़ा प्रभाव पड़ा और भगवान बुद्ध से उपदेश सुनकर वे बौद्ध धर्म के अनुयायी बन गये। राजा उदयन के बौद्ध धर्म में दीक्षित होने की इसी प्रकार की कथा तिब्बती बौद्ध ग्रंथों में भी मिलती है। इन कथाओं से यह सिद्ध होता है कि उदयन पहले बौद्ध धर्म के प्रति शत्रुता की भावना रखता था, परन्तु बाद में उस धर्म का अनुयायी हो गया।

उदयन के बौद्ध धर्म में दीक्षित हो जाने के बाद कौशाम्बी में बौद्ध धर्म के अनु-यायियों की संख्या बढ़ने लगी। फलस्वरूप कौशाम्बी में विहारों और आरामों की रचना होने लगी। महात्मा बुद्ध के निवास करने के लिए घोषिताराम सबसे अधिक भव्य और सुन्दर बनाया गया था। यह आराम यमुना के तट पर कौशाम्बी के दक्षिण-पूर्व भाग में बना हुआ था और जिसको फाहियान और ह्वेनसांग ने देखा था।

बौद्ध कथानकों के आधार पर भगवान् बुद्ध का कम से कम दो बार कौशाम्बी आना सिद्ध होता है। इस अवसर पर उन्होंने कई प्रसिद्ध उपदेश दिये थे। इनमें से कोसम्बीय-सुत्त, स्कंदसुत्त, बोधिराजकुमारसुत्त आदि अत्यंत प्रसिद्ध माने जाते हैं। इनमें विशेष रूप से पारस्परिक कलह तथा ढोंगी गुरुओं से सचेत किया गया है। बुद्ध के समय में ही कुछ अहंकारी भिक्षुओं ने संघ में भेद डालने की चेष्टा की थी, तब इस प्रवृत्ति को दूर करने की चेष्टा से भगवान् बुद्ध ने कोसम्बीयसुत्त का उपदेश दिया था। कुछ बौद्ध धर्मग्रंथों में इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि कौशाम्बी के तीन प्रमुख

सेठों--घोषित, कुक्कुट और पावारीय के निमंत्रण पर भगवान् बुद्ध कौशाम्बी पधारे थे। इन्हीं तीन भक्तों ने महात्मा बुद्ध के आवास के लिए अपने नाम से तीन विहारों को बनवाया था। तिपल्लत्थमिग जातक के अनुसार महात्मा बुद्ध के ठहरने का कौशाम्बी में एक और स्थान था जो बद्रीकाराम के नाम से विख्यात था। इस प्रकार से कौशाम्बी या उसके आस-पास में बनाये गये चार विहारों की सूचना हमें मिलती है, जिनकी रचना भगवान् बुद्ध के समय में ही हो गई थी। कौशाम्बी में किये गये बुद्ध जी के उपदेशों को पढ़ने से ऐसा लगता है कि वे अपने अनुयायियों के कलह से बहुत दुखी थे। अतः कहा जाता है कि एक बार वे अपने शिष्यों से रूठ करके पारिलेयक वन में भूखे-प्यासे एकान्तवास करने लगे। उस समय द्रवित होकर एक बन्दर ने उन्हें प्याला भर शहद प्रदान किया तत्पश्चात् उसने कुएं में कूद कर देवयोनि प्राप्त की। इस चमत्कार का उनके शिष्यों पर बड़ा प्रभाव पड़ा और कुछ दिन तक संघ में फूट एवं कलह कम रही।

उदयन के पश्चात् उसका पुत्र बोधिकुमार अथवा नरवाहन कौशाम्बी का राजा हुआ। वह भी बौद्धधर्म का अनुयायी था। उसने यहां एक भव्य प्रासाद की रचना करवाई थी। जब प्रासाद बन कर तैयार हो गया तो भगवान् बुद्ध की चरण-धूलि से उसे पवित्र करने के लिए उसने उन्हें उनके शिष्यों सहित आमंत्रित किया एवं भिक्षा दी। इसके पश्चात् कुछ काल हमें कौशाम्बी के इतिहास का पता नहीं चलता। इसका वास्तविक इतिहास हमें अशोक के समय से मिलता है जब यह उसके विस्तृत साम्राज्य का एक प्रदेश था और एक महामात्र द्वारा शासित होता था। उस समय यहां के बौद्ध संघ की दशा सुचारु न थी, जैसा कि कौशाम्बी के महामात्रों को दी गई राजाज्ञा से प्रतीत होता है। यह राजाज्ञा इलाहाबाद के किले में स्थित अशोक की लाट पर उत्कीर्ण है। तदन्तर यह प्रदेश शुंगों की राज्यसत्ता में आया, जैसा कि यहां से प्राप्त लेखों एवं मुद्राओं से ज्ञात होता है। इस काल में बहसतिमित (बृहस्पतिमित्र) नाम से किसी राजा ने पभोसा (प्रभासपत्तन) की पहाड़ियों में कौशाम्बी से दो मील दूर कस्यपीय अर्हतों के निवास के लिए गुफाएं बनवायी थीं। सन् १९३४ ई० में यहां से प्राप्त एक बुद्ध मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख से यह ज्ञात होता है कि कनिष्क ने कौशाम्बी को अपने शासन काल के दूसरे वर्ष में ही अपने राज्य में मिला लिया था। कुषाणों की सत्ता समाप्त होने के पश्चात् कुछ दिन कौशाम्बी भारशिवों के राज्य का अंग रहा। किन्तु यह दशा अधिक दिनों न रही और केंद्रीय सत्ता के कमजोर होने के साथ-साथ कौशाम्बी स्वतंत्र हो गया। इस बीच अनेक राजाओं ने यहां राज्य किया, जिनका नाम हमें यहां से प्राप्त

लेखों एवं सिक्कों से ज्ञात हुआ है। ३२० ई० में गुप्तों का जब उत्कर्ष हुआ तो कौशाम्बी उनके राज्य में हो गया। ५वीं शताब्दी में जब फाहियान नामक प्रसिद्ध चीनी यात्री ने भारत की यात्रा की तो उसने कौशाम्बी का वर्णन करते हुए लिखा है—"मृगदाव (सारनाथ) से १३ योजन उत्तर-पश्चिम दिशा में कौशाम्बी नामक देश है। उस स्थान पर एक मंदिर है जिसका नाम घोसिताराम है। वहां एक बार भगवान् बुद्ध ने निवास किया था। आजकल भी वहां बहुत से भिक्षु रहते हैं जिनमें से अधिकांश हीनयान सम्प्रदाय के हैं।" इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि ५ वीं शताब्दी में कौशाम्बी उन्नत अवस्था में था। परन्तु जब ७ वीं शताब्दी में ह्वेनसांग वहां पहुंचा तो उसे यह विहार भग्नावस्था में मिला। ह्वेनसांग ने अपनी यात्रा के समय कौशाम्बी में दस विहारों को भग्नावस्था में देखा था, यद्यपि उस समय भी वहां हीनयान शाखा के ३०० भिक्षु निवास करते थे। उसने कौशाम्बी के ६० फुट ऊंचे बौद्ध मंदिर का भी उल्लेख किया है जिसमें उदयन द्वारा बनवाई गई एक चन्दन की बुद्ध मूर्ति स्थापित थी। इसके अतिरिक्त उसने घोसिताराम के निर्माता श्रेष्ठी घोसित के भवनों के ध्वंसावशेष, एक अन्य बौद्ध मंदिर एवं स्तूप तथा भगवान् बुद्ध का स्नानागार भी देखा था। इसके ऊपरी भाग में महायान शाखा के प्रसिद्ध आचार्य वसुबन्धु रहते थे। वसुबन्धु के बड़े भाई असंग योगाचार-विचारधारा के मूल प्रवर्त्तक थे। उन्हीं की विचारधारा के प्रभाव से दिण्डनाग एवं धर्मकीर्ति जैसे अतुलित तार्किक उत्पन्न हुए। वसुबन्धु और असंग के यहां निवास करने से सिद्ध होता है कि इस काल में कौशाम्बी बौद्ध दर्शन का प्रधान केंद्र था।

सातवीं शताब्दी स ११वीं शताब्दी तक कौशाम्बी का प्रदेश किसी न किसी रूप में कन्नौज के राजाओं के अधिकार में रहा, किन्तु उसका राजनीतिक महत्व शनैः-शनैः फीका पड़ता गया और जो कुछ बचा-खुचा महत्व था वह १२वीं शताब्दी के अन्त में यवनों के आक्रमणों से लुप्त हो गया। तब से १८३६ ई० तक इसका इतिहास अंधकार के गर्त में विलीन रहा, जब श्री कनिंघम ने खोज कर इसके प्राचीन गौरव को प्रकाश में लाये। पश्चात् सन् १९२१-२२ में दयाराम सहानी तथा सं० १९३४-३५ में ननी-गोपाल मजूमदार ने यहां की खोदाई की और कुछ महत्वपूर्ण इमारतें तथा मूर्तियां आदि निकालीं। फलस्वरूप कौशाम्बी की पुरातत्व संबंधी वस्तुओं में जन अभिरुचि बहुत बढ़ी और लोगों ने यहां से कलाकृतियों को एकत्रित करना प्रारम्भ किया। इनमें अधिकांश वस्तुएं प्रयाग के संग्रहालय में हैं। ये वस्तुएं बड़े ऐतिहासिक महत्व की हैं, कारण इनसे कौशाम्बी ही नहीं वरंच सारे उत्तरी भारत के इतिहास पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

केवल मुद्राओं से ही लगभग दो दर्जन ऐसे राजाओं का नाम ज्ञात हुआ है जो अन्य किसी सूत्र से नहीं ज्ञात थे।

कौशाम्बी के गौरवपूर्ण स्थल से निम्नलिखित ऐतिहासिक इमारतों के अवशेष प्राप्त हुए हैं जो विशेष दर्शनीय है :—

उदयन के किले का परकोटा

कौशाम्बी क्षेत्र में प्रवेश करते ही चारों ओर दूर तक जो टीला-सा दिखाई देता है, उसे लोग उदयन के किले की चहारदीवारी बताते हैं। इस दीवार के वाहर एक खाईं भी थी, जिसका आभास स्थान-स्थान पर बने गड्ढों से होता है। इस चहारदीवारी में विभिन्न परिमाणों की ईंटें मिली हैं, जिनसे इसका अति प्राचीन होना सिद्ध होता है।

अशोक स्तम्भ

यहां भग्नावशेषों के मध्य एक २२ फुट लम्बा स्तम्भ मिला है जिसका शीर्ष भाग भ्रष्ट हो गया है। स्तम्भ चमकदार पालिश से जगमगाता है, जिससे यह अशोक के समय का ज्ञात होता है, यद्यपि इस पर उक्त राजा का कोई लेख नहीं है।

इस स्तम्भ के अतिरिक्त इलाहाबाद के किले में स्थित अशोक स्तम्भ भी पहले कौशाम्बी में ही था, जिस पर महामात्रों में फूट डालने वाले भिक्षु-भिक्षुणियों को कौशाम्बी से निकाल देने का आदेश सम्राट ने उत्कीर्ण कराया था।

वर्तमान खोदाई का क्षेत्र

सन् १९४८ ई० से प्रयाग-विश्वविद्यालय ने अपने प्राच्य इतिहास विभाग के अध्यक्ष श्री गोवर्धन राय शर्मा, एम० ए० के संचालन में कौशाम्बी में खोदाई कराने का कार्य अपने हाथ में लिया, जो व्यापक एवं सुचारु ढंग से चल रहा है। इस अवधि में बहुत से महत्वपूर्ण स्मारक प्रकाश में आये हैं, जिसमें से घोषिताराम के अवशेषों का अन्वेषण सबसे महत्वपूर्ण है। कौशाम्बी की इस खोदाई में प्राप्त सामग्रियों का निरीक्षण प्रयाग-विश्वविद्यालय के कौशाम्बी-संग्रहालय में देखा जा सकता है।



चि
त्रा
व
ली



लुम्बिनी के भग्नावशेष

लुम्बिनी का
विश्रामगृह
(आधुनिक)

अशोक स्तम्भ—२५० ई० पू०

लुम्बिनी के अशोक स्तम्भ का लेख

माया देवी का मंदिर
(आधुनिक)

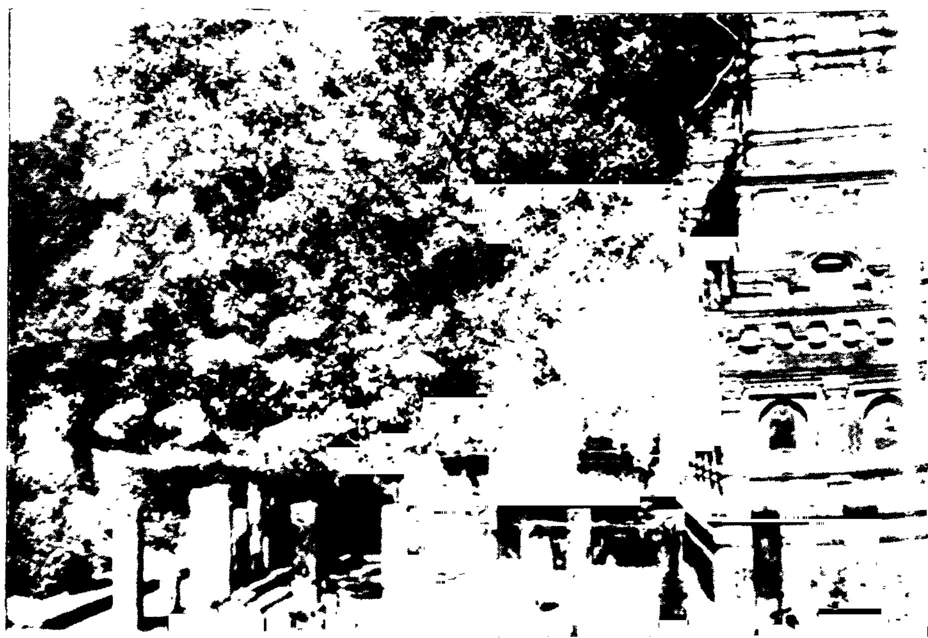




बुद्धगया का प्राचीन क्षेत्र



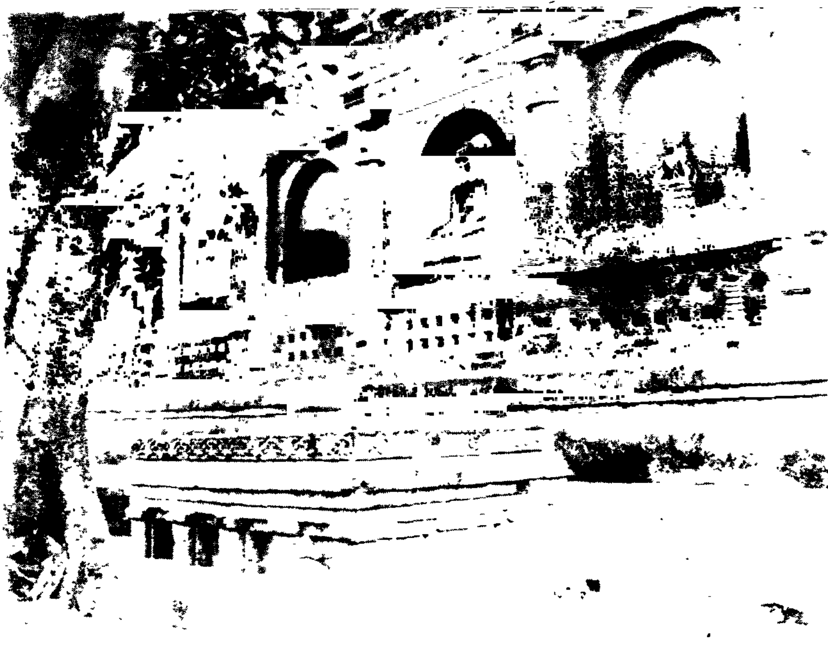
बुद्ध के जन्म के दृश्य से अंकित शिलापट्ट (गुप्तकाल)



प्राचीन बोधि वृक्ष

महाबोधि मंदिर ई०पू० २ री शताब्दी
(जीर्णोद्धार के पश्चात्)





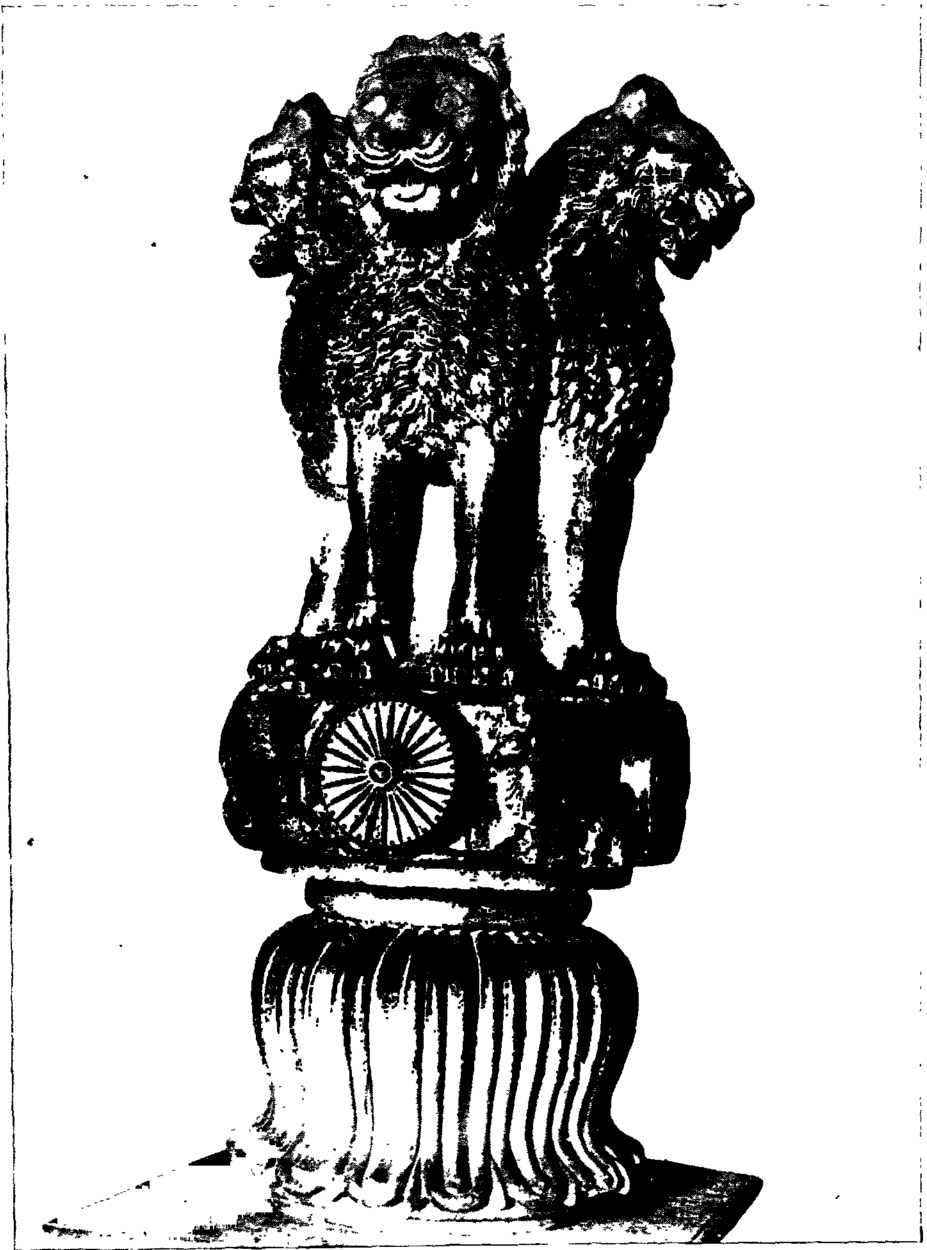
वज्रासन अथवा बोधिमंड
ई० पू० २ री शताब्दी



सारनाथ के भग्नावशेष



अशोक स्तम्भ (मौर्यकाल)
एवं मुख्य मंदिर (गुप्तकाल)



अशोक स्तम्भ का शीर्ष भाग

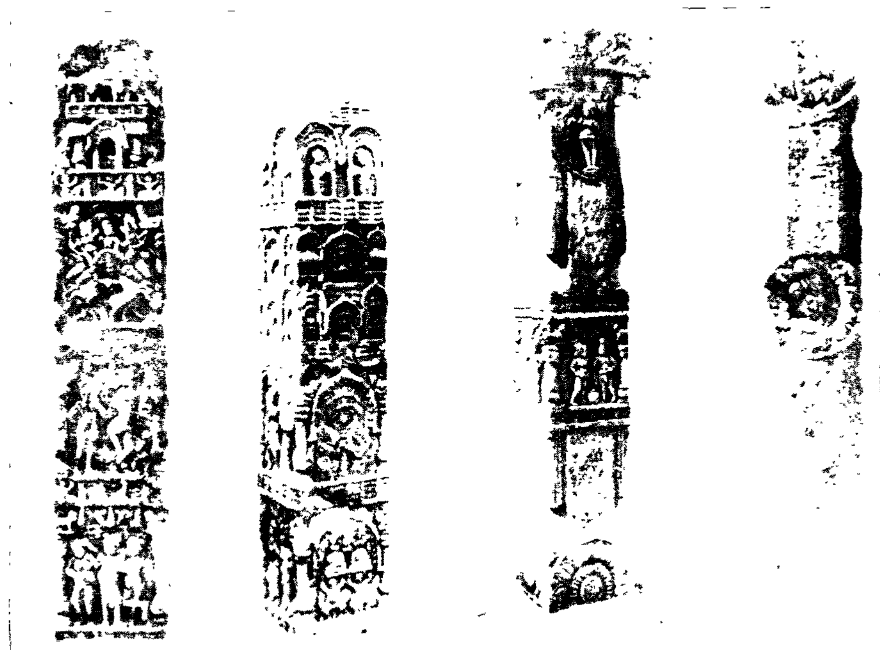


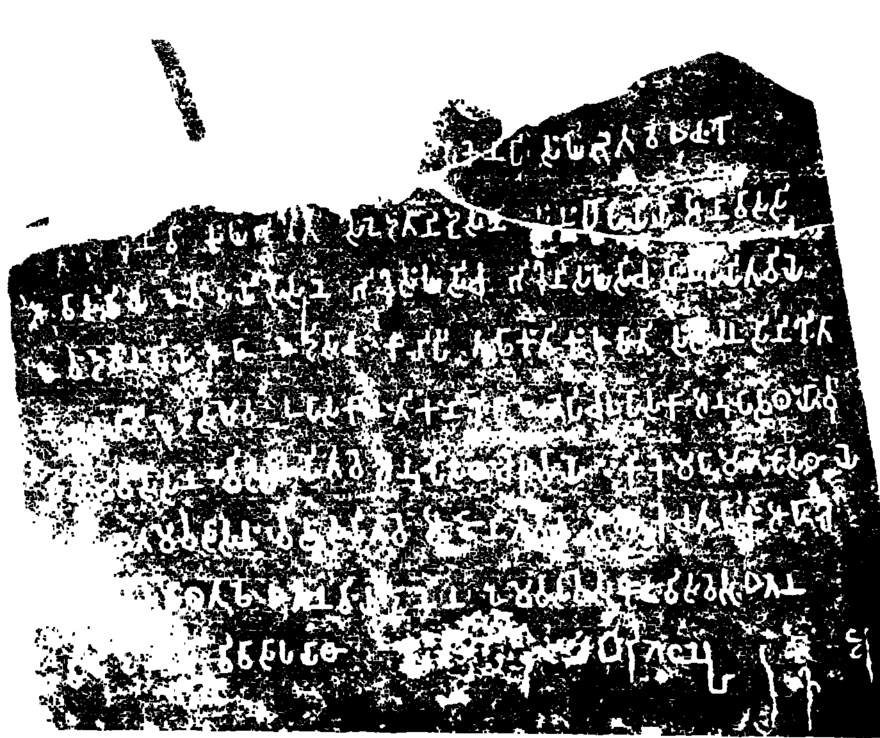
महायान बौद्ध देवता सिद्धकवीर--५वीं शताब्दी

धमेक स्तूप—ई० पू० ५वी०-
६ठीं शताब्दी।



महाबोधि मंदिर के परिवेष्टनि के स्तम्भ।





अशोक स्तम्भ का लेख ई० पू० २५० ।

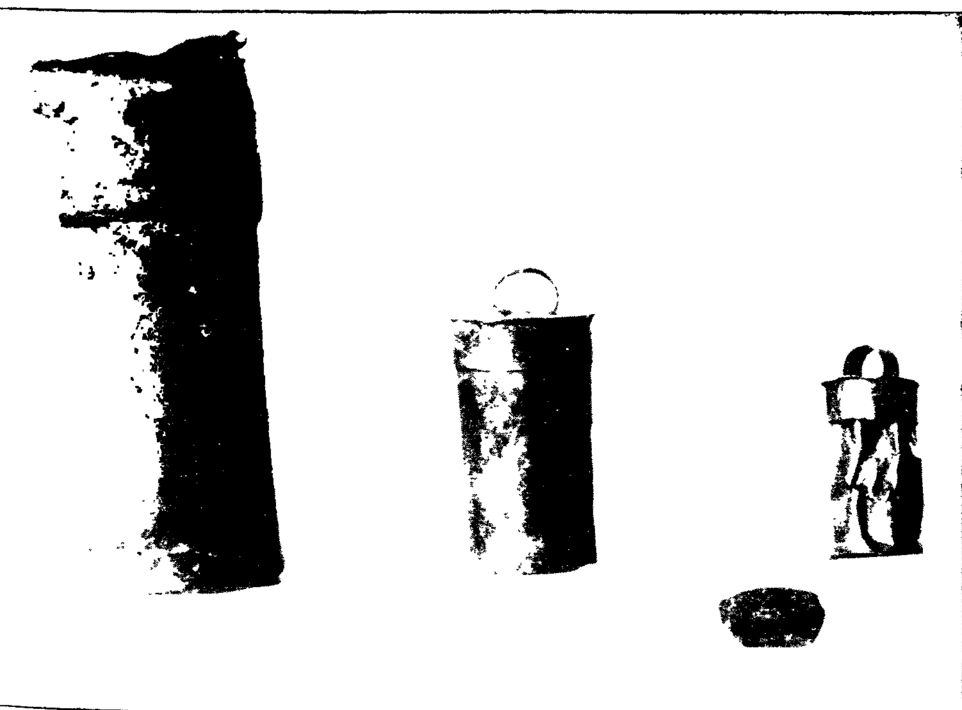
कुशीनगर के भग्नावशेष ।





महापरिनिर्वाण स्तूप (गुप्तकाल)।

महापरिनिर्वाण स्तूप में प्राप्त तांबे, चांदी और सोने की धातु पेटिका एवं चन्दन की लकड़ी का टुकड़ा।



महापरिनिर्वाण स्तूप मे
प्राप्त ताम्र घट (गुप्तकाल)।

राजगृह का क्षेत्र।

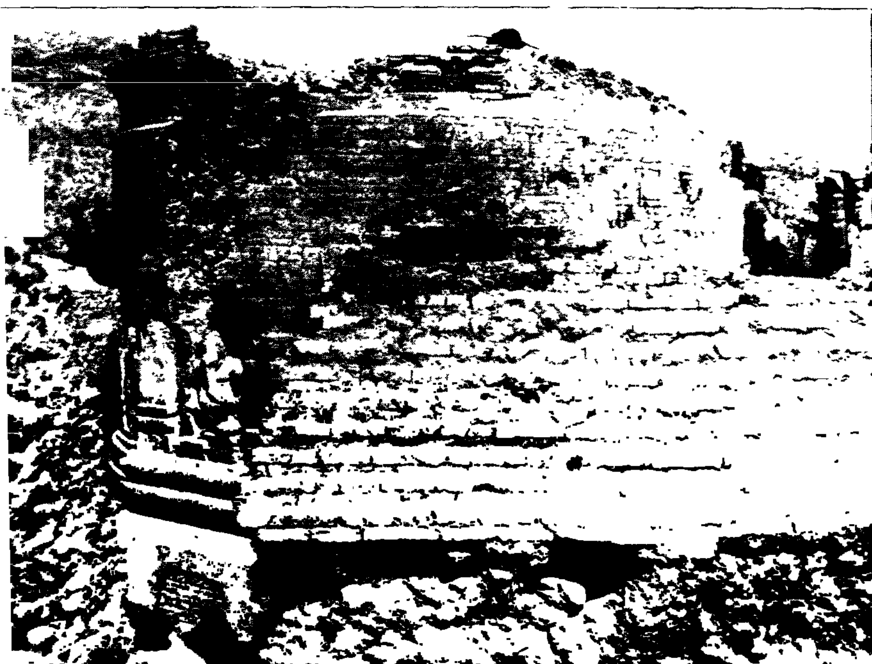


पकी हुयी मिट्टी की बनी बुद्ध-मूर्ति—५वी शताब्दी।

राजगृह् का चमत्कार——नालागिरि का दमन——९वीं शताब्दी ।



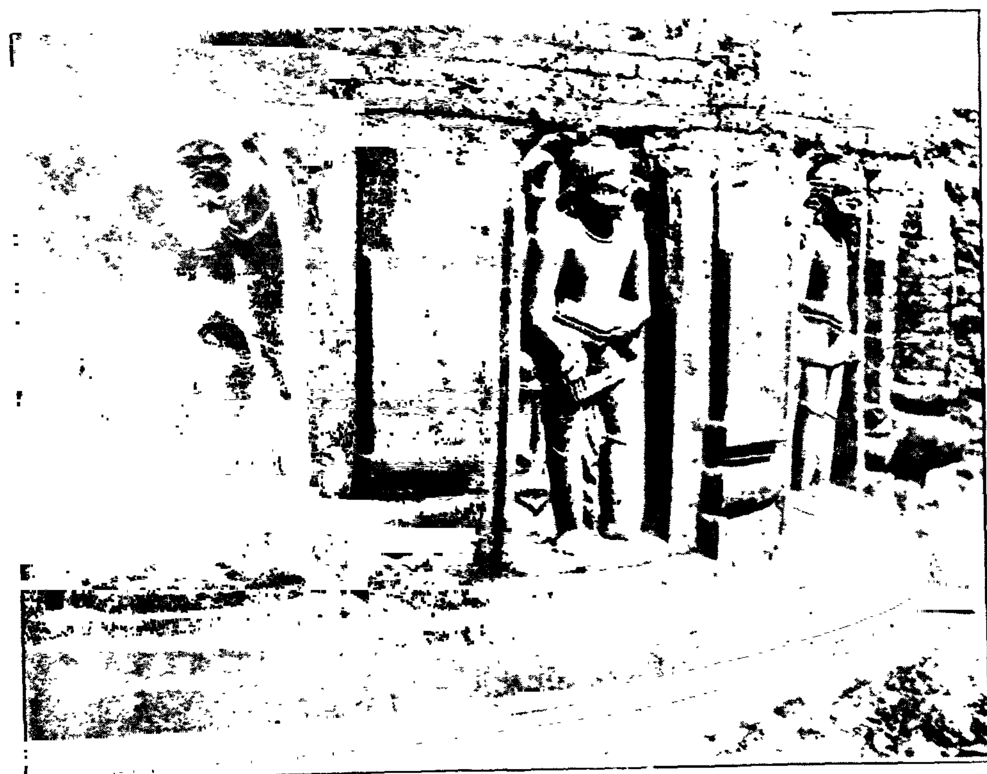
मणियार मठ का दृश्य कुषाण काल ।





श्रावस्ती के भग्नावशेष।

शिलापट्ट जिस पर मणिनाग एवं अन्य नाग-नागियों की मूर्तियां उत्कीर्ण हैं (कुषाण काल)।





ऊपर

जेतवन विहार में प्रतिष्ठापित बुद्ध मूर्ति का अधोभाग—ई० सन् प्रथम शताब्दी।

बायें

बुद्ध मूर्ति ईस्वी तीसरी शताब्दी।

दायें

भिक्षु बल द्वारा प्रतिष्ठापित बुद्ध मूर्ति—ई० प्रथम शताब्दी।





भारहुत की वेष्टनि पर अंकित जेतवन के क्रय का दृश्य--ई० पू० दूसरी शताब्दी।



संकिस्सा से प्राप्त दम्पत्ति की मूर्ति--ई० पू० प्रथम शताब्दी।



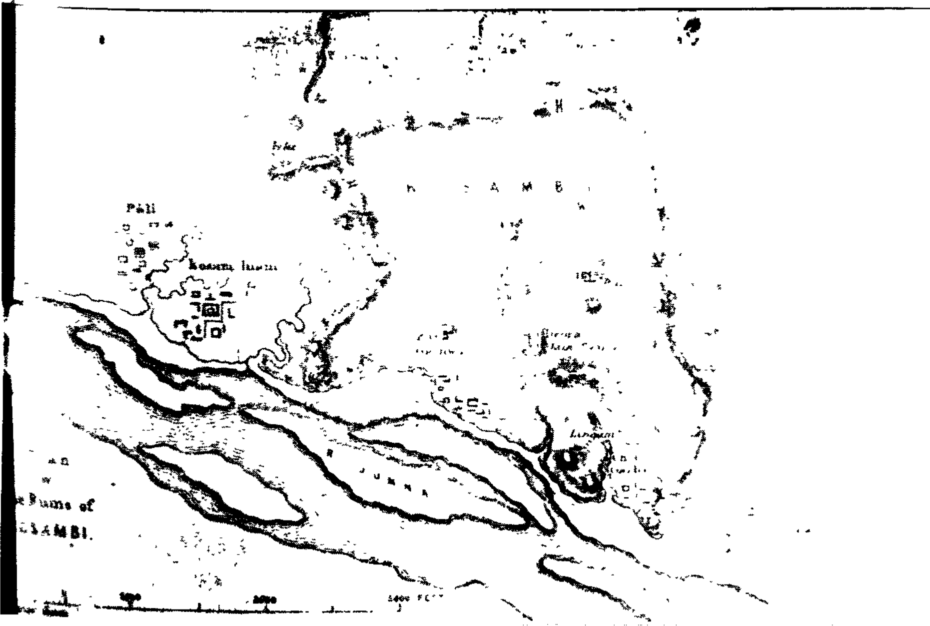
अशोक कालीन ब्राह्मी लिपि में अभिलिखित ईंट—भद्रशर्मन का दान ।

खना-विहार से प्राप्त मिट्टी की मुहर—लगभग ८ वीं शताब्दी ।

हाथी की मूर्ति से
सुसज्जित अशोक स्तम्भ
का शीर्ष भाग।

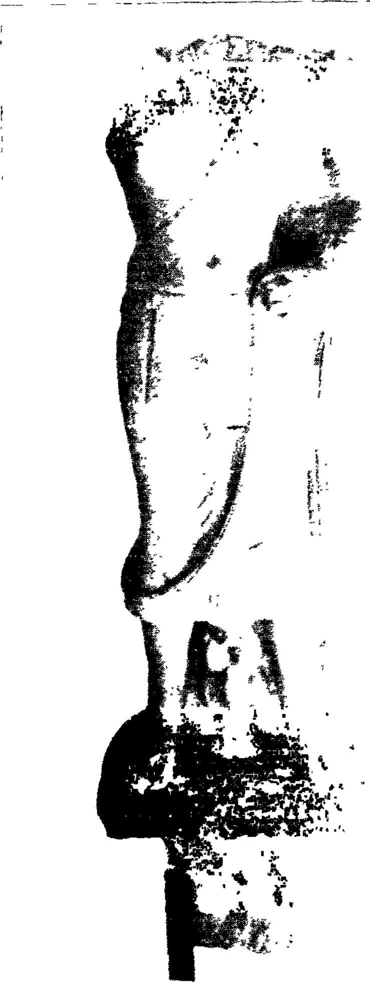


कौशाम्वी का क्षेत्र।





मिट्टी का टीकरा जिस पर उदयन द्वारा वासवदत्ता के हरण का दृश्य अंकित है--ई० पू० दूसरी शताब्दी ।



बुद्ध मूर्ति--कुषाण काल ।



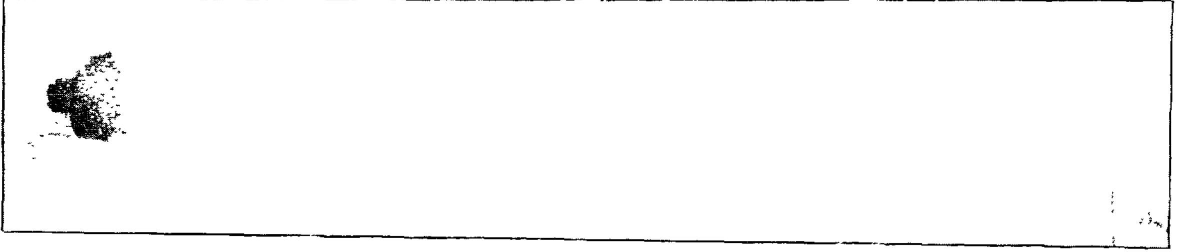
धर्मचक्र प्रवर्त्तन मुद्रा मे भगवान बुद्ध की मूर्ति——५वी शताब्दी।

बोधिसत्व लोकनाथ——५वी शताब्दी।

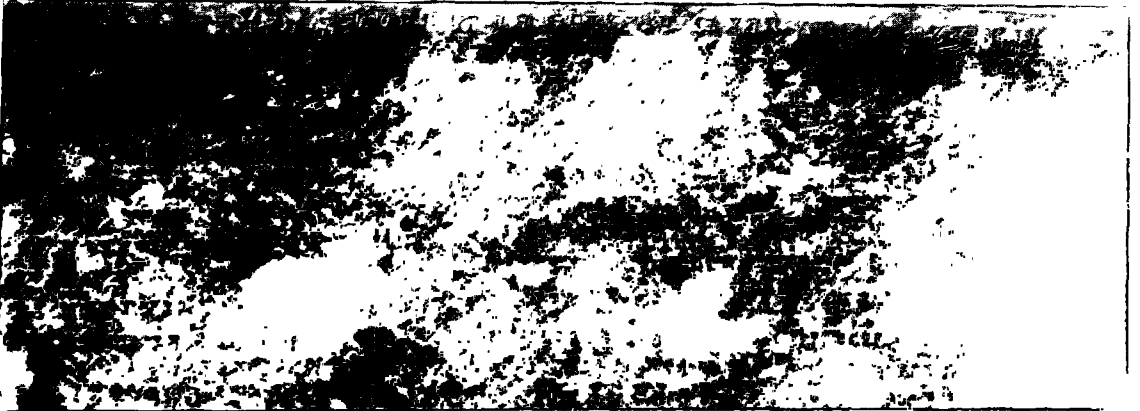




ुद्ध के जीवन के आठ प्रमुख दृश्य से अंकित शिलापट्ट (गुप्तकाल)।



महापरिनिर्माण मुद्रा में भगवान बुद्ध की मूर्ति (गुप्तकाल)।



अभिलिखित ताम्रपत्र (गुप्तकाल)।



कुबेर की मूर्ति--७वीं शताब्दी ।

PLAN
of the Ruins of
SANKISA
and
AGAHAT-SARAI

संकिसा का प्राचीन क्षेत्र।



बुद्ध का स्वर्गारोहण--ई० पू० प्रथम शताब्दी ।



पखना विहार मे प्राप्त शिलापट्ट जिस पर खसर्पण लोकेश्वर एवं लोकनाथ की मूर्तियां अंकित हैं——ई० ६ठीं शताब्दी ।

घोपिताराम से प्राप्त लेख——ई० पू० पहली शताब्दी ।





घोषिताराम मे प्राप्त अभयमुद्रा में बुद्ध मूर्ति लगभग
ई० सन् ५वी शताब्दी।

